पहला खण्ड

धर्म क्या है

"दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः"

—मनु० अ० ६-९१

धर्मशिक्षा

—◯:०:०◯—

धर्म

वैशेषिक शास्त्र के कर्त्ता कणाद मुनि ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है:—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिससे इस लोक और परलोक, दोनों में सुख मिले, वही धर्म है। इससे जान पड़ता है कि जितने भी सत्कर्म हैं, जिनसे हमको सुख मिलता है; और दूसरों को भी सुख मिलता है, वे सब धर्म के अन्दर आ जाते हैं।

हम कैसे पहचानें कि यह मनुष्य धार्मिक है, इसके लिए मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं। वे लक्षण इस प्रकार हैं:—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् जिस मनुष्य में धैर्य हो, क्षमा हो, जो विषयों में फँसा न हो, जो दूसरे की वस्तु को मिट्टी के समान समझता हो, जो भीतर बाहर से पाकसाफ़ हो, जो इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोकता हो, जो विवेकशील हो, जो विद्वान् हो, जा सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी हो, जो क्रोध न करता हो, वही पुरुष धार्मिक है। ये दस बातें यदि मनुष्य अपने अन्दर धारण

कर ले, तो वह न तो स्वयं दुख पावे; न कोई उसको दुख दे सके; और न वह किसी को दुःख दे सके।

मनुष्य इस संसार में जो सत्कर्म करता है, जो कुछ वह धर्म संचय करता है, वही इस लोक में उसके साथ रहता है; और उस लोक में भी वही उसके साथ जाता है। साधारण लोगों में कहावत भी है कि, "यश-अपयश रह जायगा; और चला सब जायगा।" यह ठीक है। मनुजी ने भी यही कहा है:-

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

अर्थात् मनुष्य के मरने पर घर के लोग उसके मृत शरीर को काठ अथवा मिट्टी के ढेले की तरह स्मशान में विसर्जन करके विमुख लौट आते हैं, सिर्फ उसका सत्कर्म—धर्म—ही उसके साथ जाता है।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि, जो लोग धर्म छोड़ देते हैं—अधर्म से कार्य करते हैं—उनकी पहले वृद्धि होती है, परन्तु वही वृद्धि उनके नाश का कारण होती है, मनुजी ने कहा है:—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

अर्थात् मनुष्य अधर्म से पहले बढ़ता है, उसको सुख मालूम होता है, (अन्याय से) शत्रुओं को भी जीतता है; परन्तु अन्त में जड़ से नाश हो जाता है। इस लिए धर्म की मनुष्य को पहले रक्षा करनी चाहिए। जो मनुष्य धर्म को मारता है, धर्म भी उसको मार देता है; और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। इसी लिए व्यास मुनि ने महाभारत में कहा है कि धर्म को किसी दशा में भी नहीं छोड़ना चाहिये:—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् ।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये ।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

न तो किसी कामनावश, न किसी प्रकार के भय से; और न लोभ से—यहां तक कि जीवन के हेतु से भी—धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और ये सब सांसारिक सुख-दुःख अनित्य हैं। जीव, जिसके साथ धर्म का सम्बन्ध है, वह भी नित्य है; और उसके हेतु जितने हैं, वे सब अनित्य हैं। इस लिए किसी भी कारण से धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।

स्वधर्म के विषय में तो भगवान् कृष्ण ने गीता में यहां तक कहा है कि:—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अर्थात् अपना धर्म चाहे उतना अच्छा न हो; और दूसरे का धर्म चाहे बहुत अच्छा भी हो, पर तो भी (दूसरे का धर्म स्वीकार न करे) अपने धर्म में मर जाना अच्छा; पर दूसरे का धर्म खतरनाक है।

इस लिए अपने धर्म की मनुष्य को यत्न के साथ रक्षा करनी चाहिए। मनुजी ने कहा है कि,

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ॥

अर्थात् धर्म को यदि हम मार देंगे, तो धर्म भी हमको मार देगा। यदि धर्म की हम रक्षा करेंगे, तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा। इसलिए धर्म को मारना नहीं चाहिए। उसकी रक्षा

करनी चाहिए। यदि प्राण देने की आवश्यकता हो, तो प्राण भी दे देवें; परन्तु धर्म बचाने से हटे नहीं। यही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। वास्तव में मनुष्य और पशु में यही तो भेद है कि, मनुष्य को ईश्वर ने धर्म दिया है; और पशुओं को धर्माधर्म का कोई ज्ञान नहीं। अन्य सब बातें पशु और मनुष्य में समान ही हैं। किसी कवि ने ठीक कहा है:—

आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुन इत्यादि सांसारिक बातें पशु और मनुष्य, दोनों में एक ही समान होती हैं। एक धर्म ही मनुष्य में विशेष होता है; और जिस मनुष्य में धर्म नहीं, वह पशु के तुल्य है।

इस लिए मनुष्य को चाहिए कि, अपनी इस लोक और परलोक की उन्नति के लिए सदैव अच्छे अच्छे गुणों को धारण करे। कई लोग कहा करते हैं कि, अभी तो हमारा बहुत सा जीवन बाकी पड़ा है। जब तक बच्चे हैं, खेलें-कूदें, जवानी में खूब आनन्द-भोग करें; फिर जब बूढ़े होंगे, धर्म को देख लेंगे। यह भावना बहुत ही भूल की है। क्योंकि जीवन का कोई ठिकाना नहीं है। न जाने मृत्यु कब आ जावे! फिर यौवन, धन, सम्पत्ति, का भी यही हाल है। ये सब सदैव रहनेवाली चीज़ें नहीं हैं। धर्म तो मनुष्य का जीवन भर का साथी है; और मरने के बाद भी वही साथ देता है। इस लिए बाल-अवस्था से ही धर्म का अभ्यास करना चाहिए। धर्म के लिए कोई समय निश्चित नहीं है कि, अमुक अवस्था में ही मनुष्य धर्म करे। व्यासजी ने महाभारत में कहा है:—

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो ।
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते ॥
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना ।
सदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते ॥

अर्थात् मनुष्य के धर्माचरण का कोई समय निश्चित नहीं है; और न मृत्यु ही उसकी प्रतीक्षा करेगी। मृत्यु ऐसा नहीं सोचेगी कि, कुछ दिन तक और ठहर जाओ, जब यह मनुष्य कुछ धर्म कर ले, तब इसका ग्रास करो। इस लिए, जब कि मनुष्य, एक प्रकार से सदैव ही मृत्यु के मुख में रहता है, तब मनुष्य के लिए यही शोभा देता है कि, वह सदैव धर्म का आचरण करता रहे।

१—धृति

धृति या धैर्य धर्म का पहला लक्षण है। किसी कार्य को साहसपूर्वक प्रारम्भ कर देना, और फिर उसमें चाहे जितनी आपत्तियां आवें, उसको निर्वाह कर के पार लगाना धृति या धैर्य कहलाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में तीन प्रकार की धृति बतलाते हुए उसका लक्षण इस प्रकार दिया है:—

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी ॥

भगवद्गीता अ० १८

हे पार्थ, योग से अटल रहनेवाली जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को मनुष्य धारण करता है, वह धृति सात्विकी है।

धृति या धैर्य जिस मनुष्य में नहीं है, वह मनुष्य कोई भी कार्य संसार में नहीं कर सकता। उसका मन सदा डावांडोल रहता है। किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उसे साहस ही नहीं होता। राजर्षि भर्तृहरि महाराज ने कहा है:—

> आरभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।
> प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः॥
> विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
> प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति॥

अर्थात् जिनमें धैर्य नहीं है, वे विघ्नों के भय से पहले ही घबड़ा जाते हैं; और किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उनको साहस ही नहीं होता। ऐसे पुरुष नीचे दरजे के हैं। और जो उनसे कुछ अच्छे मध्यम दर्जे के हैं, वे कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं; पर बीच में विघ्न आ जाने से अधूरा ही छोड़ देते हैं। इन्हीं को कहते हैं—प्रारम्भशूर। अब जो सब से उत्तम धैर्यशाली पुरुष हैं, वे विघ्नों के बार बार आने पर भी, कार्य को अन्त तक पहुँचा देते हैं। बीच में अधूरा नहीं छोड़ते। बल्कि बीच में जो संकट और बाधाएं आती हैं, उनसे धैर्यशाली पुरुष का उत्साह तथा तेज और भी अधिक बढ़ जाता है।

ऐसे धैर्यशाली पुरुषों को धर्म का बल होता है, वे सांसारिक निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक, इत्यादि की परवा नहीं करते। जो कार्य उनको न्याय और धर्म का मालूम होता है, उसमें उनके सामने कितने ही संकट आवें, उनकी परवा वे नहीं करते; और अपने न्याय के मार्ग पर बराबर डँटे रहते हैं। भर्तृहरि जी पुनः कहते हैं:—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

नीतिनिपुण लोग चाहे उनकी निन्दा करें; और चाहे प्रशंसा करें, लक्ष्मी चाहे आवे; और चाहे चली जाय, आज मृत्यु हो, चाहे प्रलयकाल में हो, जो धीर पुरुष हैं, वे न्याय के पथ से विचलित नहीं होते ।

मरना-जीना तो ऐसे आदमियों के लिए एक खेल होता है। वे समझते हैं कि, हमारी आत्मा तो अमर है-एक चोला छोड़ कर दूसरे चोले में चले जायँगे । कृष्ण भगवान् कहते हैं:—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
भगवद्गीता ।

धैर्यशाली पुरुष समझते हैं कि जैसे प्राणी की इस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा की अवस्था होती है, इसी प्रकार इस चोले को छोड़कर दूसरे चोले का धारण करना भी प्राणी की एक अवस्था-विशेष है । और ऐसा समझ कर वे मोह में नहीं पड़ते । हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, जो धैर्यशाली पुरुष सुखदुख को समान समझता है, वही अमर होने का अधिकारी है ।

महाभारत शान्तिपर्व में व्यासजी ने इस प्रकार के धैर्य-शाली पुरुष को हिमालय पर्वत की उपमा दी है:—

न पंडितः क्रुध्यति नाभिपद्यते न चापि संसीदति न प्रहृष्यति ।
न चापिकृच्छ्व्यसनेषु शोचते स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ।

अर्थात् ऐसा धैर्यशाली पंडित पुरुष न तो क्रोध करता है; और न इन्द्रियों के विषयों में फँसता है, न दुःखी होता है; और न हर्ष में फूलता है, चाहे जितने भारी संकट उस पर आकर पड़ें; पर वह घबड़ा कर कर्त्तव्य से नहीं डिगता—हिमालय की तरह अचल रहता है । पुनश्च—

यमर्थसिद्धिः परमा न हर्षयेत्तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं निषेवते यः स धुरन्धरो नरः ॥
महाभारत, शान्तिपर्व ।

चाहे जितना धन उसको मिल जावे, वह हर्ष नहीं मनाता, और चाहे जितना कष्ट उस पर आजावे, वह घबड़ाता नहीं—ऐसा धुरन्धर मनुष्य सुखदुःख की समान अवस्था में भी अपने को समरस रखता है । जैसे समुद्र अपनी मर्यादा को धारण करता है, उसी प्रकार धीर पुरुष सदैव धीर-गम्भीर रहकर अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता ।

जिस पुरुष में धैर्य होता है, वह ईश्वर को छोड़ कर किसी से डरता नहीं । निर्भयता धैर्यशाली पुरुष का मुख्य लक्षण है । ऐसा मनुष्य, धर्म की संस्थापना के लिए, दुष्टों के बल को नष्ट करने में अपनी सारी शक्ति लगा देता है; और सज्जनों के बल को बढ़ाता है । किसी बात की परवा न करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है । एक कवि ने कहा है:—

अर्थः सुखं कीर्तिरपीह मा भूदनर्थ एवास्तु तथापि धीराः ।
निज प्रतिज्ञामधिरूह्यमाना, महोद्यमाः कर्मसमारभन्ते ॥

अर्थात् धन, सुख, यश, इत्यादि चाहे कुछ भी न हों; और चाहे

जितनी हानि हो; परन्तु धैर्यशाली पुरुष अपनी प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुए, सदा उत्साहपूर्वक महान् उद्योग में लगे रहते हैं।

इस लिए धैर्य को धारण करना मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है। चाहे जितना भारी संकट आवे, धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। किसी कवि ने ठीक कहा है:—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले धैर्यात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात्सः।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभंगे सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव॥

अर्थात् चाहे जितना संकटकाल आवे, धैर्य न छोड़ना चाहिए; क्योंकि शायद धैर्य धारण करने से कोई रास्ता निकल आवे। देखो, समुद्र में जब जहाज डूब जाता है, तब भी उसके यात्रीगण पार पाने की इच्छा रखते हैं; और धैर्य के कारण बहुत से लोगों को ऐसे ऐसे साधन मिल जाते हैं, कि जिनसे उनका जीवन बच जाता है।

अतएव जो मनुष्य धैर्यशाली है, उसको धन्य है। ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं, और ऐसे ही लोगों से इस संसार की स्थिति है। किसी कवि ने ऐसे धीर पुरुषों की प्रशंसा करते हुए कहा है:—

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्॥

जिनको सम्पदा में हर्ष नहीं; और विपदा में विषाद नहीं, तथा रण में निर्भय होकर शत्रु का नाश करते हैं, कभी पीठ नहीं दिखाते, ऐसे धीर पुरुष, तीनों लोकों के तिलक हैं। माता ऐसे विरले सुत पैदा करती है। सब को ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

२–क्षमा

मनुष्य को भीतर-बाहर से कोई दुःख उत्पन्न हो, चाहे किसी दूसरे मनुष्य के द्वारा वह दुःख उसे दिया गया हो; और चाहे उसके कर्मों के द्वारा ही उसे मिला हो; पर उस दुःख को सहन कर जाय। उसके कारण क्रोध न करे; और न किसी को हानि पहुँचावे। इसी का नाम क्षमा है। दया, सहनशीलता, अक्रोध, नम्रता, अहिंसा, शान्ति इत्यादि सद्गुण क्षमा के साथी हैं। क्योंकि जिसमें क्षमा करने की शक्ति होगी, उसी में ये सब बातें भी हो सकती हैं।

क्षमा का सब से अच्छा उदाहरण धरतीमाता है। धरती का दूसरा नाम ही क्षमा है। धरती पर लोग मलमूत्र करते हैं, थूकते हैं, उसको हल, फावड़ा, कुदाल इत्यादि से काटते-मारते हैं, सब प्रकार के अत्याचार प्राणी पृथ्वी पर करते हैं; परन्तु पृथ्वीमाता सब को सहन करती है। सहन ही नहीं करती, बल्कि उलटे सब का उपकार करती है। सब को अपनी छाती पर धारण किये हुए है। नाना प्रकार के अन्न, फल-फूल, बनस्पति देकर सब प्राणिमात्र का पालन-पोषण करती है, इसी लिए उसका नाम क्षमा है।

क्षमा का गुण सब मनुष्यों में अवश्य होना चाहिए। संसार में ऐसा भी कोई मनुष्य है, जिसने कभी किसी का अपराध न किया हो? यदि ऐसा कोई मनुष्य हो, तो वह भले ही किसी का अपराध सहन न करे; परन्तु वास्तव में ऐसा कौन मनुष्य है? हमे तो संसार में ऐसा एक भी मनुष्य दिखाई नहीं देता कि जिसने जान-बूझ-कर, अथवा भूल से,

कभी किसी का अपराध न किया हो। ऐसी दशा में क्षमा धारण करना प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

मनुष्य में यदि क्षमा न होगी, तो संसार अशान्तिमय हो जायगा। एक के अपराध पर दूसरा क्रोध करेगा; और फिर दूसरा भी उसके बदले में क्रोध करेगा। आपस में लड़ें-मरें और कटेंगे। संसार में दुःख का ही राज्य हो जायगा। सब एक दूसरे के शत्रु हो जायँगे। मित्रता के भाव का संसार से लोप हो जायगा। इस लिए मैत्री-भाव बढ़ाने के लिए क्षमा की बड़ी आवश्यकता है। क्षमा से बड़े बड़े शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। नीति कहती है:—

> क्षमाशस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
> अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेव प्रणश्यति॥

अर्थात् क्षमा का हथियार जिसके हाथ में है, दुष्ट मनुष्य उसका क्या कर सकता है? वह तो आप ही आप शान्त हो जायगा—जैसे घासफूस से रहित पृथ्वी पर गिरी हुई आग आप ही आप शान्त हो जाती है।

बहुत बार ऐसा भी देखा गया है कि, साधुओं की क्षमा के प्रभाव से दुर्जन लोग, जो पहले उनके शत्रु थे, मित्र बन गये हैं। क्योंकि चाहे दुर्जन ही क्यों न हो, कुछ न कुछ मनुष्यता उसमें रहती है; और क्षमा करने पर फिर वह अपने अपराध पर पछताता है और लज्जित होकर कभी कभी फिर स्वयं क्षमा माँग कर मित्र बन जाता है। इस लिए मृदुता या क्षमा से सब काम सधते हैं। एक कवि ने कहा है:—

> मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
> नासाध्य मृदुना किंचित्तस्मात्तीव्रतरं मृदु॥

अर्थात् कोमलता कठोरतर को मार देती है; और कोमलता को तो मारती ही है। ऐसा कोई काम नहीं, जो कोमलता से सध न सके। इस लिए कोमलता ही बड़ी भारी कठोरता है। साधु लोग अक्रोध, अर्थात् क्षमा से ही क्रोध को जीतते हैं, और अपनी साधुता से दुर्जनों को जीत लेते हैं।

परन्तु नीति और धर्म यह भी कहता है कि, सब समय में क्षमा भी अच्छी नहीं होती। विशेषकर क्षत्रियों के लिए तो क्षमा का व्यवहार बहुत सोच-समझ-कर करना चाहिए। वास्तव में भीतर से कृपा रख कर—शत्रु के भी हित की कामना करके—यदि बाहर से क्रोध दिखलाया जाय, तो उसका नाम क्रोध नहीं होता। वह तेजस्विता है; और तेजस्विता भी मनुष्य का भूषण है। जिसमें तेज नहीं, वह नपुंसक या कायर है। कायरता की क्षमा कोई क्षमा नहीं। शरीर में बल हो, तो क्षमा भी शोभा देती है। अतएव व्यासजी ने महाभारत में कहा है कि:—

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः।
स वै सुख मवाप्नोति लोकेऽस्मिन्परत्र च॥

अर्थात् समय समय के अनुसार जो मनुष्य मृदु और कठोर होता है—यानी मौका देख कर तेज भी दिखलाता है; और क्षमा के मौके पर क्षमा भी करता है, वही मनुष्य इस लोक और परलोक में सुख पाता है। बल रहते हुए प्रबल और दुष्ट शत्रु को कभी क्षमा न करना चाहिए। यह पुरुषार्थ नहीं है। व्यासजी ने क्षत्रियों का धर्म बतलाते हुए महाभारत में कहा है:—

स्ववीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयति वै परान्।
अभीतो युध्यते शत्रून् स वै पुरुष उच्यते॥

अर्थात् स्वयं अपने बल पर जो शत्रु को ललकारता है; और निर्भय होकर उससे युद्ध करता है, वही वीर पुरुष है; और जो दूसरों का आश्रय ढूँढ़ता है, अथवा दुम दबा कर भागता है, वह कायर है।

सारांश यह है कि, क्षमा मनुष्य का परम धर्म अवश्य है; परन्तु सदैव क्षमा भी अच्छी नहीं होती; और न सदैव तेज ही अच्छा होता है। मौका देख कर, जब जैसा उचित हो, तब तैसा व्यवहार करना चाहिए। मान लीजिए, कोई हमारा उपकारी है; और सदैव हमारा उपकार करता रहता है। अब, ऐसे मनुष्य से यदि कभी कोई छोटा-मोटा अपराध भी हो जाय, तो क्षमा करना उचित है। माता, पिता, गुरु, राजा, इत्यादि बड़े लोगों में यदि क्षमा न हो, तो वे अपना कर्तव्य उचित रीति से नहीं बजा सकते।

छोटी-मोटी बातों पर क्रोध कर के हमको अपने चित्त की शान्ति को भंग नहीं कर लेना चाहिए। विवेक से काम लेना चाहिए। थोड़ी देर विचार करने पर हमको स्वयं शान्ति मिलेगी; और हमारा अपराधी भी कुछ विचार करेगा। बहुत सम्भव है कि, उसकी बुद्धि ठीक हो जाय; और पश्चात्ताप से वह सुधर जाय।

मनुष्य के ऊपर बहुत से ऐसे मौके आते हैं कि, जब उसकी क्षमा और सहनशीलता की परीक्षा होती है। कभी आसपास के मनुष्य ही कोई मूर्खता का काम कर बैठते हैं, कभी मित्र लोग ही रूठ जाते हैं, कभी नौकर-चाकर लोग ही आज्ञा भंग करते हैं, कभी कोई हमारा अपमान ही कर देता है, कभी हमारे बड़े लोग ही हम को कष्ट देते हैं, कभी दुष्ट लोग निन्दा करते

हैं—अब, ऐसी दशा में, यदि हम बात बात पर क्रोध करने लगें; और क्षमा, शान्ति और सहनशीलता से काम न लें, तो क्रोध से हमारी ही हानि विशेष होगी। "रिस तनु जरै होय बल-हानी।" इस लिए ऐसे मौकों पर क्षमा अवश्य धारण करना चाहिए। इस प्रकार की क्षमा सदैव उपयोगी है। इसी लिए ऋषि-मुनियों ने क्षमा की प्रशंसा की हैः—

क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा।
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किन्न साध्यते॥

अर्थात् क्षमा कमज़ोर के लिये तो बल है; और बलवान् को शोभादायक है। क्षमा से लोगों को वश में कर सकते हैं। क्षमा से क्या नहीं सिद्ध हो सकता?

क्षमा धर्म का एक बड़ा अंग है; और उसका धारण करना हम सब का कर्तव्य है।

३—दम

मन को इन्द्रियों के वश में न होने देने का नाम दम है। मनुष्य के अन्दर मन इन्द्रियों का राजा है। जिस तरफ मन इन्द्रियों को चलाता है, उसी तरफ इन्द्रियां अपने विषयों में दौड़ती हैं। इस लिए जब तक मन का बुद्धि के द्वारा दमन नहीं किया जाय, तब तक इन्द्रियों का निग्रह नहीं हो सकता। इन्द्रियों के वश में यदि मन हो जाता है, तो इन्द्रियां इसको विषयों में फँसा कर मनुष्य का सत्यानाश कर देती हैं। कृष्ण भगवान् गीता में कहते हैंः—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

गीता अ० २

इन्द्रियां विषयों की ओर दौड़ती रहती हैं। ऐसी दशा में यदि मन भी इन्द्रियों के पीछे ही पीछे दौड़ता है, तो वह मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार नाश कर देता है, जैसे हवा नौका को पानी के अन्दर डुबा देती है। इसलिए जब कभी मन बुरी तरह से विषयों की ओर दौड़े—अपनी स्वाभाविक चंचलता को प्रकट करे, तभी उसको बुद्धि और विवेक से खींच कर के उसकी जगह पर ही उसको रोक देवे। कृष्णजी कहते हैं:—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

गीता, अ० ६

अर्थात् यह चंचल और अस्थिर मन जिधर जिधर को भागे, उधर ही उधर से इसको खींच लावे; और इसको अपने वश में रखे। मन की गति किधर को होती है? या तो यह विषयों के सुख की ओर दौड़ेगा, अथवा किसी के प्रेम और मोह में दौड़ेगा, अथवा किसी की निन्दा-स्तुति, द्वेष, या किसी को हानि पहुँचाने की ओर दौड़ेगा। जो शुद्ध मन होगा, वह ईश्वर की ओर दौड़ेगा, उसी में एकाग्र होगा। अथवा दूसरे का उपकार सोचेगा। इस लिए मनुष्य का मन अपनी वेगवान् गति से सदैव दौड़ा ही करता है। इसको यदि एक जगह लाकर ईश्वर में लगा देवें, तो उसी का नाम योगाभ्यास है। परन्तु मन का रोकना बहुत कठिन है। इस विषय में परम भगवद्भक्त वीरवर अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से कहा था:—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
गीता, अ० ६ ।

हे कृष्ण, यह मन बड़ा चंचल है। इन्द्रियों को विषयों की ओर से खींचता नहीं है, बल्कि और ढकेलता है। चाहे जितना विवेक से काम लो, फिर भी इसको जीतना कठिन है। विषयवासनाओं में बड़ा दृढ़ है। इसका निग्रह करना तो ऐसा कठिन है कि जैसे हवा की गठड़ी बांधना। इस पर भगवान् कृष्ण ने कहा:—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
गीता, अ० ६ ।

हे वीरवर अर्जुन, इसमें सन्देह नहीं, यह मन अत्यन्त चंचल है; और इसका रोकना बहुत कठिन है, फिर भी दो उपाय ऐसे हैं, कि जिनसे यह वश में किया जा सकता है; और वे उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। अभ्यास—अर्थात् बार बार और बराबर मन की हरकतों पर यदि हम ध्यान रखें; और उसको अपने वश में लाने का प्रयत्न जारी रखें, तो यह असम्भव नहीं कि वह वश में न हो जावे; और वैराग्य—अर्थात् संसार के जितने विषय हैं, उनका उचित रूप से, धर्म से, सेवन करें—सेवन करें; और फँसें नहीं। इनके पीछे पागल न हो जावें—अपनी आत्मा और संसार को हानि न पहुँचावें। बल्कि अपनी आत्मा और संसार के कल्याण का ख़याल रखते हुए—इन्द्रियों और मन को वश में रखते हुए—यदि हम संसार के कर्त्तव्यों का पालन करें; और धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करें, तो यह भी वैराग्य ही है। इस प्रकार की चित्तवृत्ति

का अभ्यास करने से मन वश में हो जाता है; और प्रसन्नता प्राप्त होती है। यही बात कृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं :—

रागद्वेषविमुक्तस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
गीता

जो विषयों से प्रेम और द्वेष छोड़ देता है—अर्थात् उनमें फँसता नहीं है; धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करता है, जिसका मन वश में है, इन्द्रियाँ वश में हैं, वह प्रसन्नता प्राप्त करता है। उसको विषयों का सुखदुख नहीं मालूम होता। मन परमात्मा और धर्म में लीन रहता है। ऐसे पुरुष को कभी क्लेश नहीं होता। क्लेश में भी वह अपने मन का दमन करके सुख ही मानता है। न उसको अपने ऊपर द्वेष या क्रोध होता है; और न दूसरे के ऊपर।

दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति ।
न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ॥
महाभारत, वनपर्व।

जो सदैव मन और इन्द्रियों को वश में रख कर शान्त और दान्त रहता है, वह दुःख का अनुभव नहीं करता। जिसने अपने मन का दमन कर लिया है, वह दूसरे के सुख को देख कर कभी जलता नहीं। सुखी होता है।

कई लोगों का मत है कि, मन को दाबना कभी नहीं चाहिए। किन्तु मन जो मांगता जावे, वही उसको देते रहना चाहिए। इस प्रकार जब मन खूब विषय-उपभोग करके तृप्त हो जायगा, तब आप ही आप उसका दमन हो जायगा। परन्तु भगवान् मनु कहते हैं कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥

मनुस्मृति, अ० २

विषयों के भोग की इच्छा विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं हो सकती; किन्तु और भी बढ़ती ही जाती है—जैसे आग में घी डालने से आग और बढ़ती है। इस लिए विवेक से मन का दमन करने से इन्द्रियां आप ही आप विषयों से खिँच आती हैं। जैसे कछुवा अपने सब अंगों को अन्दर सिकोड़ लेता है, वैसे ही इन्द्रियां अपने को विषयों से समेट करके मन के साथ आत्मा में भीतर संलग्न हो जाती हैं। जब मनुष्य की ऐसी दशा हो जाती है, तब विषयों से विरक्त मन को आत्मा में स्थिर करके वह मोक्ष प्राप्त करता है। इसी लिए कहते हैं कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तौ निर्विषयं मनः ॥

मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है; क्योंकि विषयों में फँसा हुआ मन बन्धन में है; और विषयों से छूटा हुआ मुक्त है। ज्ञानी लोग विषयों से मन को छुड़ा कर इसी जन्म में मुक्ति का अनुभव करते हैं।

सारांश यह है कि, मन की वासना जो सदैव बुरे और भले मार्गों की ओर दौड़ा करती है, उसको बुरे मार्गों की ओर से हटा कर सदैव कल्याण-मार्ग की ओर लगाते रहना चाहिए। यही मन का दमन है। महाभारत में इसका फल इस प्रकार कहा है:—

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दममुत्तमम् ।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ॥

महाभारत

मन का दमन करने से तेज बढ़ता है। यह मनोदमन का गुण मनुष्य में परम पवित्र और उत्तम है। इससे पाप नष्ट होता है; और मनुष्य तेजस्वी होकर परमात्मा को प्राप्त करता है।

४—अस्तेय

दूसरे की वस्तु अपहरण न करके, धर्म के साथ अपनी जीविका करने को अस्तेय कहते हैं। मनु महाराज ने धर्मपूर्वक धन कमाने के निम्नलिखित दस साधन बतलाये हैं:—

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवन हेतवः ॥

अर्थात् १ अध्ययन-अध्यापन का कार्य करना, २ शिल्पविज्ञान-कारीगरी, ३ किसी के घर नौकरी करना, ४ किसी संस्था की सेवा करना, ५ गोरक्षा-पशुपालन, ६ देशविदेश घूमकर अथवा एक स्थान में दूकान रख कर व्यापार करना, ७ कृषि करना, ८ सन्तोष धारण करके जो मिल जाय, उसी पर गुज़ारा करना, ९ भिक्षा मांगना, १० ब्याज-साहूकारी, इत्यादि, ये दस बातें जीविका की हेतु हैं।

अपने अपने वर्णधर्म के अनुसार इन्हीं व्यवसायों में से कोई व्यवसाय मनुष्य को चुन लेना चाहिए। व्यवसाय कोई भी हो, ईमानदारी और सच्चाई के साथ करना चाहिए। दूसरे का धन बेईमानी या चोरी से हरण करने का प्रयत्न न करना चाहिए।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

—उपनिषद् ।

अर्थात् यह सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत् परमात्मा से व्याप्त है-ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें वह न हो; इस लिए उसको डरो। ईमानदारी के साथ, सच्चाई से जितना मिले, उसी का भोग करो। महर्षि व्यास जी ने कहा है:—

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान् ।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद्धनकांक्षया ॥

महाभारत, शान्तिपर्व।

अर्थात् जो धन धर्म से पैदा किया जाता है; वही सच्चा धन है; अधर्म से पैदा किये हुए धन को धिक्कार है। धन सदैव रहने की चीज़ नहीं है; और धर्म सदैव रहता है। इस लिए धन के लिए धर्म कभी न छोड़ो।

धर्म की अवहेलना करके जो लोग चोरी, घूस अथवा व्यापार इत्यादि में मिथ्याचार या धूर्तता का व्यवहार करके धन जोड़ते हैं, उनको उस धन से सुख कदापि नहीं मिलता। अन्याय से बहुत सा जोड़ा हुआ उनका धन दुर्व्यसनों में खर्च होता है। इससे उनका शरीर मिट्टी हो जाता है; और ऐसे नीच धनवान लोग लोक-परलोक दोनों बिगाड़ते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने गीता में ऐसे अधमों का अच्छा वर्णन किया है:—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनाऽर्थसंचयान् ॥
अनेक चित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

गीता

अर्थात् सैकड़ों आशाओं की फाँसियों में बँधे हुए, कामक्रोध में तत्पर, विषय-सुख के लिए अन्याय से धन संचय करने की चेष्टा करते हैं। चित्त चंचल होने के कारण भ्रांति में पड़े रहते हैं। मोहजाल में लिपटे रहते हैं। काम-भोगों में फँसे रहते हैं। ऐसे दुष्ट बड़े बुरे नरक में पड़ते हैं।

इसके सिवाय जो धन अधर्म से इकट्ठा किया जाता है, वह बहुत समय तक ठहरता भी नहीं—जैसा आता है, वैसा ही चला जाता है। चाणक्य मुनि ने तो कहा है कि—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

चाणक्यनीति

अर्थात् अधर्म और अन्याय से जो द्रव्य उपार्जन किया जाता है, वह सिर्फ दस वर्ष ठहरता है; और ग्यारहवें वर्ष जड़मूल से नाश हो जाता है। चांहे चोरी हो जाय, चाहे आग लग जाय, चाहे स्वयं वह अधर्मी नाना प्रकार के दुराचारों में ही उसको ख़र्च कर दे; पर वह रहता नहीं; और न ऐसे धन से उसको सुख ही होता है। इस लिए अपने बाहुबल से, धर्म के साथ उद्योग करते हुए, जीविका के लिए धन कमाना चाहिए। उद्योगी पुरुष के लिए धन की कमी नहीं। राजर्षि भर्तृहरि कहते हैं:—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।
दैवं प्रधानमिति कापुरुषा वदन्ति॥
दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या।
यत्नेकृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥

अर्थात् जो पुरुष उद्योगी हैं, अपने बाहुबल का भरोसा कर के सतत परिश्रम करते रहते हैं, उन्हीं के गले में लक्ष्मी जयमाल

पहनाती है; और जो लोग कायर आलसी हैं, वे भाग्य का भरोसा किये बैठे रहते हैं। इस लिए भाग्य का भरोसा छोड़ कर शक्ति-भर खूब पौरुष करो। यत्न करो। यत्न करने पर यदि सफलता प्राप्त न हो, तो फिर यत्न करो। देखो कि, हमारे यत्न में कहां दोष रह गया है। उस दोष को खोज निकाल कर जब निर्दोष यत्न करोगे, तब सफलता अवश्य मिलेगी। नीचे लिखे हुए गुण जिस उद्योगी मनुष्य में होते हैं, उसके पास धन की कमी नहीं रहती:—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं।
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्॥
शूरं कृतज्ञं दृढ़सौहृदं च।
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः॥

जिस पुरुष में उत्साह भरा हुआ है, जो आगे की बात ताड़ कर बराबर दक्षता से उद्योग करता रहता है, कार्य करने की चतुरता जिसमें है, जो व्यसनों में नहीं फँसा है, जो शूर-वीर और आरोग्य-शरीर है, जो किये हुए उपकार को मानता है, जिसका हृदय मज़बूत है; और दूसरे के साथ सहृदयता का बर्त्ताव करता है, ऐसे पुरुष के पास लक्ष्मी स्वयं निवास करने को आती है।

इस लिए बराबर उद्योग करते रहना चाहिए। परन्तु एक जगह बैठे रहने से भी मनुष्य धन नहीं कमा सकता। नीति में कहा हुआ है:—

विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्।
यावद्व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः॥

अर्थात् विद्या, द्रव्य, कलाकौशल, इत्यादि जीविका-सम्बन्धी

बातें मनुष्य को तब तक भली भांति नहीं प्राप्त हो सकतीं, जब तक कि वह पृथ्वी-पर्यटन न करे; और आनन्दपूर्वक देशदेशान्तर का भ्रमण न करे। जापान, अमेरिका, जर्मनी, इंगलैंड, इत्यादि जितने उन्नत देश हैं, उनके होनहार नवयुवक विद्यार्थी जब एक दूसरे के देशों में जाकर शिल्प, कलाकौशल, विज्ञान, कृषि, इत्यादि की विद्या सीखकर आये हैं, तब उन्होंने अपने देश को उन्नत किया है; और स्वयं भी उन्नत हुए हैं। हमारे देश के नवयुवक और व्यवसायी लोग कूप-मंडूक की तरह इसी देश में पड़े रहते हैं; और विदेशियों की दलाली करने में ही अपने व्यवसाय की इतिश्री समझते हैं। इसी से हमारे देश का सारा व्यवसाय विदेशियों के हाथ में चला गया है; और हम दिन पर दिन दरिद्र हो रहे हैं। इस लिए हमारे धनवान् नवयुवकों को उचित है कि, वे उपर्युक्त उन्नत देशों में जाकर व्यापार-व्यवसाय का तरीका सीखें; और फिर अपने देश में आकर स्वदेशी व्यापार और कल-कारखाने चलावें, जिससे देश की सम्पत्ति देश में ही रहे; और हमारे देश के श्रमी लोगों को मिहनत-मज़दूरी तथा उद्योग-धंधा मिले।

धन की मनुष्य के लिए बड़ी आवश्यकता है। बिना धन कमाये न स्वार्थ होता है; और न परमार्थ। आजकल तो धन की इतनी महिमा है कि भर्तृहरि महाराज के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि:—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।
स पंडितः स श्रुतवान् गुणज्ञः॥
स एव वक्ता स च दर्शनीयः।
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥

जिसके पास धन है, वही मनुष्य कुलीन है, वही पंडित है, वही अनुभवी है, वही गुणज्ञ है, वही वक्ता है, वही दर्शनीय, सुन्दर है, सब गुण एक कांचन में ही बसते हैं। और जिसके पास धन नहीं है:—

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न सम्भाषते।
भृत्यः कुप्यति नानुगच्छति सुतः कान्ता च नालिङ्गते॥
अर्थप्रार्थनशङ्कया न कुरुते सम्भाषणं वै सुहृत्।
तस्माद् द्रव्यमुपार्जय शृणु सखे द्रव्येण सर्वे वशाः॥

उसको माता गालियां दिया करती है, पिता उसको देखकर प्रसन्न नहीं होता, भाई लोग बात नहीं करते, नौकर लोग अलग ही मुहँ बनाये रहते हैं, लड़के उसका कहना नहीं मानते, स्त्री अलग कटी रहती है, मित्र लोग यदि मार्ग में सामने पड़ जाते हैं, तो इस शंका से मुहँ फेर लेते हैं कि, कहीं कुछ मांग न बैठे—सीधे बात नहीं करते। इस लिए मित्रो, सुनो, धन कमाओ। क्योंकि धन के ही वश में सब हैं।

धन कमाओ तो सही; पर उसका उपयोग भी जानो। क्योंकि यदि कमाया; और उसका उचित विनियोग न किया तो व्यर्थ है। संसार में प्रायः बहुत लोग ऐसे ही हैं, कि, जो धन कमाकर या तो उसे संचित ही रखते हैं, अथवा फिजूलखर्ची में उड़ा देते हैं। दोनों बातें ख़राब हैं। धन को मौका देख कर न्यूनाधिक ख़र्च करना चाहिए। नीति में कहा है:—

यः काकिनीमप्यपथप्रपन्नां।
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्॥
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्तः।
तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥

अर्थात् बुरे रास्ते में यदि एक कौड़ी भी जाती हो, तो उसे हजार मुहरों की तरह बचा लो; और मौका लगने पर—किसी अच्छे काम में—करोड़ों अशर्फियां भी मुक्तहस्त होकर ख़र्च कर लो। जो उद्योगी पुरुष ऐसा करता है—अर्थात् धर्म से कमाया हुआ धन धर्म ही में ख़र्च करता है, उसको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती। परन्तु जो मनुष्य अपनी आमदनी का ख़याल न करके व्यर्थ में बहुत सा धन व्यय किया करते हैं, वे सदैव दुखी रहते हैं। क्योंकि—

> क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।
> परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥

आमदनी का विचार न करके यदि स्वच्छन्दतापूर्वक खर्च करते रहें, तो कुबेर के समान धनी भी निर्धन दरिद्री बन जायँगे।

इस लिए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि, अपने अनुकूल उचित जीविका को ग्रहण करके, अपने पुरुषार्थ और बाहुबल से, धर्म के साथ, धन कमावे, परस्त्री और परधन को हरण करने की कभी इच्छा न करे।

> मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
> आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः ॥

जो दूसरे की स्त्री को माता के तुल्य और दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के तुल्य देखता है; और सब प्राणियों का दुखसुख अपने ही दुखसुख के समान देखता है, वही सच्चा विवेकी पुरुष है।

५—शौच ।

शौच का अर्थ है शुद्धता। शुद्धता दो प्रकार की है। एक बाहर की शुद्धता। दूसरी भीतर की शुद्धता। बाहर की सफ़ाई में शरीर, वस्त्र, स्थान, इत्यादि की शुद्धता आती है; और भीतर की शुद्धता में मन या आत्मा की शुद्धता आती है। मनु महाराज ने एक श्लोक में बाहरी-भीतरी शुद्धता के साधन, थोड़े में, बहुत अच्छी तरह बतला दिये हैं। वह श्लोक इस प्रकार है:—

> अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
> विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥
>
> मनु०

अर्थात् शरीर, वस्त्र, स्थान, इत्यादि बाहरी चीज़ें पानी-मिट्टी (या साबुन, गोबर) इत्यादि से शुद्ध हो जाती हैं। मन सत्य से शुद्ध होता है। विद्या और तप से आत्मा शुद्ध होती है; और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

मनुष्य को चाहिए कि, वह नित्य कुल्ला-दातुन करके मुख को और शुद्ध ठंढे जल से स्नान करके अपने सब अंगों को साफ़ रखे। शरीर की मलीनता से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कपड़ा साफ़ पहनना चाहिए। मोटे कपड़े से शरीर की सब ऋतुओं में रक्षा होती है। जहां तक हो सके, कम वस्त्र पहनो; और सफ़ेद रंग का ही कपड़ा पहनो। सफेद रंग का कपड़ा पहनने से, मैला होने पर, वह तुरन्त ही मालूम हो जाता है; और उसे साफ़ करके धो सकते हैं; पर रंगीन कपड़ा, जिसको "मैलख़ोरा" कहते हैं, कभी मत पहनो। कई लोग, कपड़ा मैला न हो, इसी कारण रंगीन पहनते हैं; पर यह

चाल अच्छी नहीं है । रंगीन कपड़े में मैल खपता रहता है; और फिर वही शरीर के लिए हानिकारक होता है ।

. शरीर और वस्त्रों की सफ़ाई इस विचार से न रखो कि, तुम देखने में सुन्दर लगो; पर इस विचार से रखो कि, तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा रहे; और तुम्हारा चित्त प्रफुल्लित रहे । क्योंकि शरीर और कपड़े साफ़ रहने से दूसरे पर चाहे जो असर पड़ता हो, अपने चित्त को ही प्रसन्नता होती है । मन में उत्साह बढ़ता है, जिससे मनुष्य के सत्कार्यों में उसको सफलता मिलती है ।

यही बात स्थान की सफ़ाई के विषय में भी कही जा सकती है । जगह चाहे थोड़ी ही हो, लेकिन साफ़-सुथरी और हवादार हो । अपने अपने स्थान की चीज़ें ठीक तौर से, जहां की तहां, सफ़ाई के साथ, रखी हुई हों । इस बाहर की सफ़ाई का शरीर की आरोग्यता और चित्त की प्रसन्नता पर बड़ा अच्छा असर पड़ता है; और ये दो बातें ऐसी हैं; कि जिनका मनुष्य के धर्म से बड़ा गहरा सम्बन्ध है ।

एक और सफ़ाई का मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए; और वह सफ़ाई है, पेट के अन्दर की मलशुद्धि । प्रायः देखा जाता है कि, लोग अपने बालकों को प्रातःकाल शौच जाने की आदत नहीं डलवाते । लड़के उठते ही खाने को मांगते हैं; और मूर्ख माताएं , बिना शौच और मुख-मार्जन के ही, लाड़प्यार के कारण, उनको कलेऊ खाने को दे देती हैं । पेट का मल साफ़ न होने के कारण रक्त दूषित हो जाता है; और शरीर रोग का घर बन जाता है । इस लिए प्रातःकाल शौच जाने की आदत जरूर डालना चाहिए; और इस बात का ध्यान रखना

चाहिए कि, जो कुछ भोजन किया जाता है, वह पचकर, उसका मल रोज़ का रोज़, नियमानुसार निकलता रहता है, या नहीं।

ये तो ऊपरी शौच की बातें हुईं। अब हम भीतरी शुद्धता के विषय में कुछ लिखेंगे। वास्तव में भीतरी शुद्धता पर ही मनुष्य का जीवन बहुत कुछ अवलम्बित है; क्योंकि उसका सम्बन्ध मन, बुद्धि और आत्मा की पवित्रता से है। जब तक मनुष्य का मन, बुद्धि और आत्मा पवित्र नहीं है, तब तक बाहरी शुद्धि का सम्बन्ध तो विशेष कर शरीर से ही है; और शरीर भी केवल बाहरी शुद्धि से उतना लाभ नहीं उठा सकता, जब तक मन, बुद्धि और आत्मा पवित्र न हो।

मन की शुद्धि का साधन महर्षि मनु ने 'सत्य' बतलाया है। जो मनुष्य सत्य ही बात मन में सोचता है, सत्य ही बात मुख से निकालता है; और सत्य ही कार्य करता है, उसका मन शुद्ध रहता है। वास्तव में मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है। क्योंकि श्रुति में कहा है कि—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति। यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति। यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।

अर्थात् मनुष्य जिस बात का मन से ध्यान करता है, उसी को वाचा से कहता है; और जिसको वाचा से कहता है, वही कर्म से करता है; और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल मिलता है। इस लिए सत्य का ही ध्यान करना चाहिए, जिससे मन, वचन और कर्म पवित्र हों।

जैसे मनुष्य का मन सत्य से शुद्ध होता है, वैसे ही उसकी आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होती है। आत्मा कहते हैं, जीव

को। जब मनुष्य विद्या का अध्ययन करता है; और तप करता है—अर्थात् सत्कर्मों के लिए कष्ट सहता है, तब उसका जीव या आत्मा पवित्र हो जाती है। उसके सब संशय दूर हो जाते हैं।

आत्मा की शुद्धि के साथ साथ बुद्धि भी शुद्ध होनी चाहिए। सो बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। क्योंकि ज्ञान के समान इस संसार में और कोई वस्तु पवित्र नहीं है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान की महिमा वर्णन करते हुए कहा है :—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

गीता

अर्थात् ज्ञान (जीव सृष्टि और परमात्मा का ज्ञान) उसी को प्राप्त होता है, जो श्रद्धावान् होता है, ज्ञान में मन लगाता है; और इन्द्रियों का संयम करता है। और जहां एक बार मनुष्य ने ज्ञान प्राप्त कर लिया, कि फिर वह परम शान्ति को पाता है। परम शान्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य की बुद्धि पवित्र होकर स्थिर हो जाती है। उस दशा में कोई बुरी बात मनुष्य के मन में आती ही नहीं। जो जो कार्य उसके द्वारा होते हैं, सब संसार के लिए हितकारी होते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, मनुष्य को अपना शरीर, मन, आत्मा, बुद्धि, इत्यादि पवित्र करते हुए भीतर बाहर शुद्ध रहने का बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिए। शुभ गुणों की वृद्धि और अशुभ गुणों का त्याग करने से मनुष्य भीतर-बाहर शुद्ध हो जाता है; और लोक-परलोक दोनों में उसको सुख मिलता है।

६—इन्द्रिय-निग्रह

मनुष्य के शरीर में परमात्मा ने दस इन्द्रियां दी हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं; और पांच कर्मेन्द्रियां। पांच ज्ञानेन्द्रियां ये हैंः—(१) आंख, (२) कान, (३) नाक, (४) रसना, अर्थात् जिह्वा, (५) त्वचा, अर्थात् खाल। इन पांचों इन्द्रियों से हम विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं—जैसे आंख से भला-बुरा रूप देखना, कान से कोमल-कठोर सुनना, नाक से सुगंध-दुर्गंध सूंघना, रसना से स्वाद चखना, त्वचा से कठोर अथवा मुलायम चीज़ का स्पर्श करना। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का एक एक सहायक देवता भी है। उसी देवता से उस इन्द्रिय के विषय की उत्पत्ति होती है। जैसे आंख का विषय रूप है, यह अग्नि अथवा सूर्य का गुण है। सूर्य या अग्नि यदि न हो, तो हमारी आंख-इन्द्रिय बिलकुल बेकाम है। इसी प्रकार कान का विषय शब्द है, यह आकाश का गुण है। आकाश ही के कारण शब्द उठता है। नाक का विषय गन्ध है। गन्ध पृथ्वी का गुण है। जीभ का विषय रस है, जो जल का गुण है, और त्वचा का विषय स्पर्श है। यह वायु का गुण है। ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और उनके विषय प्रधान हैं। अब पांच कर्मेन्द्रियों को लीजिएः— (१) वाणी; (२) हाथ; (३) पैर; (४) लिंग; और (५) गुदा। वाणी से हम बोलते हैं। यह भी जिह्वा ही है। जिह्वा में परमात्मा ने ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों की शक्ति दी है। स्वाद भी चखते हैं; और बोलते भी हैं। हाथ से कार्य करते हैं। पैर से चलते हैं। लिंग से मूत्र छोड़ते हैं; और गुदा से मल निकालते हैं।

ज्ञान-इन्द्रियां ईश्वर ने हमारे शरीर में ऊपर की ओर

बनाई हैं; और कर्मेन्द्रियां नीचे की ओर, इससे ईश्वर ने ज्ञान को प्रधानता दी है; और हमको बतलाया है कि, ज्ञान के अनुसार ही कर्म करो। अस्तु। हमारी आत्मा मन को संचालित कर के इन्द्रियों के द्वारा सब विषयों का भोग भोगती है। उपनिषदों में इसका बहुत ही अच्छा रूपक बांधा गया है:—

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
> इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
> आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

यह शरीर एक रथ है, जिसका रथी, अर्थात् इस पर आरूढ़ होनेवाला, इसका स्वामी, जीवात्मा है। जीवात्मा इस शरीररूपी रथ पर बैठ कर मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है। अब, रथ में घोड़े चाहिएं। सो दसो इन्द्रियां इस रथ के घोड़े हैं। अब घोड़ों में बागडोर चाहिए, सो मन ही इन घोड़ों की बागडोर है। रथ होगया, रथी होगया, घोड़े हो गये, घोड़ों की बागडोर होगई; अब उस बागडोर को पकड़ कर घोड़ों को अपने कब्जे में रखते हुए रथ को ठीक स्थान में, परमात्मा या मुक्ति की ओर, लेजाने वाला सारथी चाहिए। यह सारथी बुद्धि या विवेक है। अब इन्द्रियरूपी घोड़ों के चलने का मार्ग चाहिये। यह मार्ग इन्द्रियों के विषय हैं; क्योंकि विषयों की ही ओर इन्द्रियां दौड़ती हैं। इस लिए जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे बुद्धि या विवेक के द्वारा इन्द्रियों की बागडोर मन को बड़ी मज़बूती से अपने हाथ में पकड़ कर, उनको उनके विषयों के रास्ते में इस ढंग से ले चलते हैं, कि जिससे वे सुखपूर्वक ईश्वर के समीप पहुँच कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इन्द्रिय-निग्रह का सिर्फ इतना ही मतलब है कि, इन्द्रियां बुरी तरह से अपने अपने विषयों की ओर न भगने पावें। जितना जिस विषय की आवश्यकता है, उतना ही उस विषय को ग्रहण करें। विषयों में बुरी तरह से फँसकर---बेतहाशा विषयों के मार्ग में भगकर इस शरीररूपी रथ को तोड़-फोड़-कर नष्ट न कर डालें। यदि इन्द्रियां इस प्रकार कुमार्गों पर भगेंगी, तो रथ, रथी, सारथी, बागडोर, इत्यादि सब नष्टभ्रष्ट हो जायँगे। इसलिए बुद्धि या विवेक रूपी सारथी को सदैव सचेत रखो। यही इन इन्द्रियरूपी दसों घोड़ों का निग्रह कर सकता है।

कई लोग इन्द्रिय-निग्रह का उपर्युक्त सच्चा अर्थ न समझ करके इन्द्रियों को ही मारने की कोशिश करते हैं। परन्तु इन्द्रियों का तो स्वभाव ही है कि, वे अपने अपने विषयों की ओर दौड़ती हैं, जब तक इस शरीर में आत्मा, मन और इन्द्रियां हैं, तब तक विषय उनसे छूट नहीं सकते। खाली निग्रह कुछ काम नहीं कर सकता। जो केवल निग्रह से ही काम लेना चाहते हैं—विवेक या बुद्धि को उसके साथ नहीं रखते हैं, उनका मन विषयों से नहीं छूटता है। मन तो उनका विषयों की ओर दौड़ता ही है; परन्तु केवल इन्द्रियों को वे दबाना चाहते हैं। ऐसे लोगों को भगवान् कृष्ण ने गीता में पाखंडी बतलाया है:—

> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
> इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
>
> श्रीमद्भगवद्गीता

जो मूर्ख ऊपर ऊपर से कर्मेन्द्रियों का संयम करके मन से दिन

रात विषयों का चिन्तन किया करता है, वह पाखंडी है। इस लिए विवेक से मन का ही दमन करना चाहिए। ऐसा करने से इन्द्रियां विषयों में नहीं फँसती। भगवान् मनु ने स्पष्ट कहा है:—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥

मनु०

अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को भी वश में करके इस प्रकार से युक्ति के साथ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का साधन करे कि जिससे शरीर भी क्षीण न होने पावे। व्यर्थ में शरीर को कष्ट देने से इन्द्रियों का निग्रह नहीं हो सकता। बल्कि विवेक के साथ युक्ताहारबिहार को ही इन्द्रिय-निग्रह कहते हैं। इन्द्रियों के जितने विषय हैं, उनका सेवन करने में कोई हानि नहीं है; परन्तु धर्म की मर्यादा से बाहर नहीं जाना चाहिए। यदि मनुष्य विषयों में फँस जायगा, तो जरूर धर्म की मर्यादा से बाहर हो जायगा; और अपना लोक-परलोक बिगाड़ेगा। ऐसे ही लोगों के लिए महाभारत में कहा है:—

शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु।
मोहरागबलाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः॥

महाभारत, वनपर्व।

मूर्ख आदमी मोह और प्रेम में आकर, इन्द्रियों के विषयों के अधीन होकर, शिश्न और उदर के लिए, मिथ्या आहार और विहार करते हैं। अनेक प्रयत्न करके सुन्दर भोजन और स्त्री-विषय का सेवन करके नष्ट होते हैं। प्राणी की प्रत्येक इन्द्रिय का विषय इतना प्रबल है कि, वह अकेला ही उसको नाश

करने के लिए पर्याप्त है। फिर यदि पांचों विषय अपना अपना काम इन्द्रियों पर करने लगें, तो फिर उसके नष्ट होने में क्या सन्देह ? किसी कवि ने कहा है :—

कुरंग मातंग पतंग भृङ्ग।
मीना हताः पंचभिरेव पंच।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते।
यः सेवते पंचभिरेव पंच॥

अर्थात् हरिन व्याधा की बांसुरी की सुन्दर तान सुन कर मारा जाता है, हाथी मृदुल घास से पूरे हुए गड्ढे में लेटकर स्पर्श-सुख का अनुभव करने में नीचे धँस जाता है; पतिंगा दीपक के सुन्दर रूप को देख कर जल मरता है, भौंरा रस के लोभ में आकर कंटकों से बिद्ध होकर अपने प्राण देता है, मछली बंशी में लगे हुए मांस के टुकड़े की गंध पाकर उसकी ओर आकर्षित होती है; और बंशी को निगल कर अपने प्राण देती है। ये प्राणी एक ही एक इन्द्रियविषय में फँसकर नष्ट होते हैं; फिर मनुष्य, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, इन पांचों विषयों का दास हो जाय, तो वह क्यों नहीं नष्ट होगा ?

इस लिए मनुष्य को इन विषयों का दास नहीं होना चाहिए; बल्कि विषयों को अपना दास बनाकर रखना चाहिए। जो पुरुष जितेन्द्रिय होते हैं, वे विषयों का उचित मात्रा में, और धर्म की मर्यादा रखते हुए, सेवन करते हैं; और प्रिय अथवा अप्रिय विषय पाकर मन में हर्ष-शोक नहीं मानते। मनु जी कहते हैं :—

श्रुत्वास्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥

मनु०

अर्थात् निन्दास्तुति, अथवा मधुर शब्द या कठोर शब्द, सुनने से, कोमल या कठोर वस्तु के स्पर्श करने से, सुन्दर अथवा कुरूप वस्तु देखने से, सुन्दर सरस अथवा नीरस कुस्वादु भोजन से, सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध पदार्थ के सूंघने से आनन्द अथवा खेद न हो, दोनों में अपनी वृत्ति को समान रखे, वही मनुष्य जितेन्द्रिय है।

जितेन्द्रिय पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। विषयों में फँसा हुआ मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है।

७—धी

ईश्वर ने जितने प्राणी संसार में पैदा किये हैं, उन सब में मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य क्यों श्रेष्ठ है? उसमें ऐसी कौन सी बात है, जो और प्राणियों में नहीं है? आहार, निद्रा, भय, मैथुन, इन चार बातों का ज्ञान मनुष्य को है, उसकी तरह अन्य प्राणियों को भी है। परन्तु एक बात मनुष्य में ऐसी है कि, जो अन्य प्राणियों में नहीं है। और वह बात है—बुद्धि या विवेक। इसी को मनुजी ने धी कहा है। मनुष्य को ही परमात्मा ने यह शक्ति दी है कि, जिससे वह भली-बुरी बात का ज्ञान कर सकता है। किस मार्ग से चलें, जिससे हमारा उपकार हो; और दूसरों को हानि न पहुँचे? किस मार्ग से चलें, जिससे हमारा भी उपकार हो, और दूसरों का भी उपकार हो? यह विवेक मनुष्य को ही परमात्मा ने दिया है। उसने मनुष्य को बुद्धि दी है, जिससे वह दूसरे प्राणियों के मन की बात जान सकता है। उसको यह ज्ञान है कि, जिस बात से हम

को सुख होता है, उससे दूसरे को भी होता है; और जिस बात से हमको कष्ट होता है, उससे दूसरों को भी कष्ट होता है; इन सब बातों को सोचकर ही वह संसार में वर्त्तता है। और यदि यह विवेक और यह बुद्धि मनुष्य में न हो, तो पशु में और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं। कृष्ण भगवान् ने गीता में बुद्धि भी तीन प्रकार की बतलाई है:—

> प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
> बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥
> यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेवच।
> अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
> अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
> सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
>
> गीता, अ० १८

किस काम से हित होगा, किससे अहित होगा; क्या काम करना चाहिए, क्या न करना चाहिए; भय कौन सी चीज़ है; और निर्भयता क्या है, बन्धन किन बातों से होता है; और स्वतंत्रता या मोक्ष किन बातों से मिलती है, यह जिससे जाना जाता है वह उत्तम, अर्थात् सात्विकी बुद्धि है। इसी प्रकार, जिस बुद्धि से धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य का कुछ ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता—भ्रम में आकर सब काम करता है; भाग्यवश चाहे कोई बात कल्याणकारी होजावे—ऐसी बुद्धि राजसी कहलाती है; और जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है, तथा तमोगुण के प्रभाव के कारण जो बुद्धि सब कामों को उलटा ही समझती है, वह तामसी बुद्धि है।

जो सतोगुणी बुद्धि का धारण करता है, वही सच्चा बुद्धि-

मान है। महाभारत में व्यासजी ने बुद्धिमान मनुष्य का लक्षण इस प्रकार दिया है:—

> धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान् योऽनुपश्यति।
> अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मन्धर्मानुबन्धनम्॥
> कामं कामानुबन्धं च विपरीतान् पृथक् पृथक्।
> यो विचिन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान्॥
> महाभारत, आदिपर्व

धर्म, अर्थ, काम, तीनों का जो अच्छी तरह विचार करता है; देखता है कि, अर्थ क्या है; और किस प्रकार से सिद्ध किया जाय; धर्म क्या है; और उसके साधन क्या हैं, तथा काम क्या है; और उसको किस प्रकार से सिद्ध करें, तथा ऐसे कौन कौन से विघ्न हैं कि, जिनके कारण से हम इन तीनों पुरुषार्थों को भली भांति सिद्ध नहीं कर सकते। इस बात को जो धीर पुरुष अपनी बुद्धि से विचारता है, वही बुद्धिमान है।

बुद्धिमान मनुष्य प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी की परीक्षा कर के उसके हृदय में पैठ जाता है; और जिस प्रकार जो मानता है, उसी प्रकार उसको वश में कर लेता है। वह कभी किसी का अप्रिय आचरण नहीं करता। अपनी उन्नति करता है; पर दूसरे की हानि नहीं होने देता। व्यासजी कहते हैं:—

> न वृद्धिर्बहुमन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत्।
> क्षयोऽपि बहुमन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत्॥
> —म० भा०, उद्योगपर्व।

जिस उन्नति से दूसरे की हानि हो, वह वास्तव में उन्नति नहीं है; वास्तविक उन्नति तो वह है कि, जिससे दूसरे का लाभ हो, चाहे अपनी कुछ हानि हो जाय, तो भी परवा नहीं।

परन्तु वास्तव में बिना सोचे-बिचारे कोई भी काम नहीं करना चाहिए। किसी कवि ने कहा है:—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पंडितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥

अर्थात् भला-बुरा कैसा ही कार्य करना हो, बुद्धिमान लोग पहले उसका नतीजा भली भांति सोच लेते हैं; क्योंकि बिना बिचारे जो कार्य जल्दी में किया जाता है, उसका फल शल्य की तरह हृदय को दुःखदायक होता है।

जो बात अपनी समझ में न आवे, उसको वृद्ध और विद्वान् लोगों से पूछना चाहिए। हितोपदेश में कहा है:—

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुम्
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम्।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः संपृच्छेन्नो स मुह्येत् कदाचित्॥

जब कोई काम हमको करना हो, अथवा न करना हो, तब अपने भाई-बन्दों से, जो हमसे विद्या, बुद्धि, धर्म और अवस्था में वृद्ध हों, सन्मान और प्रेमपूर्वक पूछना चाहिए। उनको प्रसन्न करके, उनकी सलाह से, जो मनुष्य काम करता है, वह कभी मोह अथवा भ्रम में नहीं पड़ता।

जो मनुष्य विवेकशील, और बुद्धिमान् होता है, वह आनेवाले संकट को पहले ही जानकर उसको रोकने का उपाय करता है। भावी पर भरोसा किये बैठा नहीं रहता। वह आगे पैर रखने की जगह देख कर पीछे का पैर उठाता है। सहसा बिना बिचारे कोई काम नहीं करता। नीति में कहा है:—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥

जो स्थिर वस्तु को त्यागकर अस्थिर के पीछे दौड़ता है, उसकी स्थिर वस्तु भी नाश हो जाती है; और अस्थिर तो नाश है ही। इस लिए खूब सोच-समझ कर किसी काम में हाथ लगाना चाहिए। महाभारत में कहा है :—

सुमंत्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते ।
सिध्यन्त्यर्थां महाबाहो दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ॥

महाभारत, वनपर्व

जो कार्य स्वयं अच्छा होता है; और अच्छी तरह से सोच-समझ कर, तथा बड़ों से सलाह लेकर, किया जाता है. और उसमें खूब परिश्रम भी किया जाता है, वही कार्य सिद्ध होता है, और ईश्वर तथा भाग्य भी उसी के अनुकूल होता है। सोच-समझ-कर किया हुआ कार्य ही स्थायी होता है। इस विषय में नीति में कहा है :—

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥

खूब अच्छी तरह पचा हुआ अन्न, बुद्धिमान लड़का, अच्छी तरह सिखाई हुई स्त्री, भली भांति प्रसन्न किया हुआ राजा, विचारपूर्वक कही हुई बात, विवेकपूर्वक किया हुआ कार्य, ये बहुत काल तक बिगड़ नहीं सकते—ठीक बने रहते हैं।

बुद्धिमान पुरुषों को जो कार्य करना होता है, उसको वे पहले प्रकट नहीं करते, जब कार्य हो जाता है, तब आप ही आप

लोग उसे जान लेते हैं। इस विषय में महाभारत, उद्योगपर्व में कहा है:—

> करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत्।
> धर्मकामार्थकार्याणि तथा मंत्रो न भिद्यते॥
> यस्य कृत्यं न जानन्ति मंत्रं वा मंत्रितं परे।
> कृतमेवास्य जानन्ति स वै पंडित उच्यते॥

जो कार्य करना हो, उसको कहना नहीं चाहिए, जो कर चुके हैं, उसको कहने में कोई हर्ज नहीं। धर्म, अर्थ, काम, इत्यादि सांसारिक पुरुषार्थों के जितने कार्य हैं, उनको गुप्त ही रखना चाहिए। जब हो जायँगे, तब आप ही प्रकट हो जायँगे। इसी प्रकार उनके सम्बन्ध के सब गुप्त विचार कभी प्रकट न होने देना चाहिए। वास्तव में बुद्धिमान् मनुष्य वही है कि जिसका गुप्त विचार तथा दूसरे को भी बतलाई हुई गुप्त बात कोई और न जान सके। हां, जो कार्य वह कर चुका हो, उसको भले ही कोई जान लेवे।

किन किन बातों का बुद्धिमान मनुष्य को बार बार विचार करते रहना चाहिए, इस विषय में चाणक्यमुनि का वचन याद रखने योग्य है:—

> कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
> कस्याहं का च मे शक्तिः इति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

समय कैसा वर्त्त रहा है? हमारे शत्रु-मित्र कौन हैं? देश कौन और कैसा है? आमदनी और खर्च क्या है? हम कौन हैं? हमारी शक्ति क्या है? कितनी शक्ति हम में है? इन सब प्रश्नों के विषय में मनुष्य को बारम्बार विचार करते रहना चाहिए।

७–विद्या

विद्या का अर्थ है जानने की बात। संसार में जितनी चीज़ें हमको दिखलाई देती हैं; और जो नहीं दिखलाई देतीं, सब जानने की बात है। सब का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सृष्टि से लेकर ईश्वरपर्यन्त सब का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य की भीतरी आंखें खुल जाती हैं। परन्तु यदि अधिक न हो सके, तो अपनी शक्ति भर, जहां तक हो सके, विद्या और ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। किसी कवि ने कहा है कि,

> अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या
> ह्यल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
> यत्सारभूतं तदुपासनीयं
> हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

अर्थात् शास्त्र अनन्त हैं। विद्या बहुत है। समय बहुत थोड़ा है। विघ्न बहुत हैं। इस लिए जो सारभूत है, वही उपासनीय है। जैसे हंस पानी में से दूध ले लेता है।

इस लिए अपनी शक्ति भर माता-पिता को अपने बालकों को विद्या अवश्य पढ़ाना चाहिए। चाणक्य नीति में कहा है कि—

> माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
> न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

अर्थात् जो माता-पिता अपने बालकों को विद्याभ्यास नहीं कराते, वे शत्रु हैं। उनके बालक बड़े होने पर सभा में अपमानित होते हैं; और ऐसे कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के बीच में बगुला।

अनेक माता-पिता अपने बालकों को, मोह में आकर, लाड़-प्यार में डाले रखते हैं। लड़का ८-१० वर्ष का बड़ा हो जाता है, फिर भी झूठे प्रेम में आकर उनकी चाल नहीं सुधारते हैं; और मोह में आकर कहते हैं, "पढ़ लेगा, अभी बच्चा है।" परन्तु वे नहीं समझते कि, हम लाड़प्यार में अंधे होकर बच्चे का जीवन खराब कर रहे हैं। 'प्रेय' में पड़कर उनको 'श्रेय' का ध्यान ही नहीं रहता। प्रेय कहते हैं उसको, जो पहले तो प्रिय मालूम होता है; परन्तु पीछे से ज़हर का काम करता है; और श्रेय उसको कहते हैं, जो पहले कष्टदायक मालूम होता है; पर पीछे से उसमें हित होता है। लड़कों का प्यार भी एक ऐसी ही चीज़ है, जो पहले तो माता, पिता, इत्यादि को, मोह के कारण, प्रिय मालूम होता है; पर पीछे से वही लड़के जब उद्दंड बन जाते हैं, तब माता-पिता और सब को दुःख होता है। इसी लिए पाणिनि मुनि ने लिखा है:—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

अर्थात् जो माता, पिता और गुरु अपनी सन्तान और शिष्यों का ताडन करते हैं, वे मानो अपनी सन्तान और शिष्यों को अमृत पिला रहे हैं; और जो उनका लाड-प्यार करते हैं, वे उनको मानो विष पिला कर नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं; क्योंकि लाड़-प्यार से सन्तान और शिष्यों में अनेक दोष आ जाते हैं; और ताड़न से उनमें गुण आते हैं।

बालकों को भी चाहिए कि वे ताड़ना से प्रसन्न और लाड़-प्यार से दूर रहा करें; परन्तु माता, पिता, गुरु इत्यादि को ध्यान रखना चाहिए कि, वे द्वेष में आकर उनका ताड़न न करें;

किन्तु भीतर से उनपर कृपाभाव रख कर ऊपर से उन पर कठोर दृष्टि रखें।

अस्तु। विद्या पढ़ने-पढ़ाने में उपर्युक्त बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए; और इसी लिए हमने इस पर विशेष ज़ोर दिया है। मनुष्य को विद्या की बड़ी आवश्यकता है। इस लिए नहीं कि, सिर्फ अपनी जीविका चला कर अपना पेट भर ले; बल्कि इस लोक और परलोक के सब कर्त्तव्यों को करते हुए अपने देश का भी उपकार कर सके। विद्या की महिमा वर्णन करते हुए किसी कवि ने बहुत ही ठीक कहा है:—

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनम्।
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतम्।
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

अर्थात् विद्या मनुष्य का बड़ा भारी सौन्दर्य है। यह गुप्त धन है। विद्या भोग, यश और सुख को देनेहारी है। विद्या गुरुओं का गुरु है। विदेश जाने पर विद्या ही मनुष्य का बन्धु सहायक है। विद्या एक सर्वश्रेष्ठ देवता है। विद्या राजाओं के लिए भी पूज्य है। इसके समान और कोई धन नहीं। जो मनुष्य विद्या से विहीन है, वह पशु है।

विद्या धन में एक बड़ी विशेषता और भी है। वह यह कि, यह ख़र्च करने से और भी बढ़ती है। दूसरे धन ख़र्च करने से घटते हैं; परन्तु इसकी गति उलटी है। यदि विद्या दूसरे को दान न की जाय—पढ़ने-पढ़ाने का क्रम जारी न रखा जाय, तो वह भूल जाती है। और यदि पढ़ना-पढ़ाना जारी रखा जाय, तो इसकी और वृद्धि होती जाती है। इसी पर एक कवि ने बड़ी अच्छी उक्ति की है। वह कहता है:—

अपूर्वः कोऽपि कोषोयं विद्यते तव भारति ।
व्ययाच्च वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात् ॥

अर्थात् हे सरस्वती देवी, आपके कोष की दशा तो बहुत ही विचित्र जान पड़ती है। क्योंकि व्यय करने से इसकी वृद्धि होती है; और संचय करने से यह घट जाता है। किसी हिन्दी कवि ने एक दोहे में यही भाव दर्शाया है।

सरसुति के भंडार की बड़ी अपूरब बात ।
ज्यों ज्यों खरचे त्यों बढ़ै बिन खरचे घटि जाय ॥

इस लिए मनुष्य को चाहिए कि, विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी बन्द न करे। कौन से शास्त्र और विद्या मनुष्य को पढ़नी चाहिए, इस विषय में मनुजी का आदेश इस प्रकार है:—

बुद्धिवृद्धिकराख्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राख्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥

वेदादि शास्त्र, जिनमें शिल्पशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद इत्यादि सब आजाते हैं; और जो शीघ्र बुद्धि, धन और हित को बढ़ाने वाले हैं, उनको नित्य पढ़ना-पढ़ाना चाहिए। यह नहीं कि, विद्यालय में पढ़कर उनको भूल जाओ; बल्कि जीवन भर, अपनी जीविका का कार्य करते हुए, उनका अभ्यास करते रहना चाहिए।

आजकल पुस्तकी विद्या का बहुत प्रचार हो रहा है; पर वास्तव में पुस्तकी विद्या सदैव काम नहीं देती। इस लिए विद्या अपने आचरण में लाना चाहिए। सब बातें कंठाग्र होना चाहिए; और उनको कार्य में लाने का कौशल भी जानना चाहिए। पुस्तकी विद्या के विषय में चाणक्य मुनि ने इस प्रकार कहा है:-

पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम् ।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम् ॥

चाणक्य०

अर्थात् पुस्तक की विद्या और पराये हाथ का धन कार्य पड़ने पर उपयोग में नहीं आता। न वह विद्या है; और न वह धन है।

विद्या पढ़ने में बालकों को ख़ूब मन लगाना चाहिए; क्योंकि बालपन में जो विद्या पढ़ ली जाती है, वह ज़िन्दगी भर सुख देती रहती है; और विद्या एक ऐसा धन है, जिसमें किसी प्रकार का विघ्न भी नहीं है। किसी कवि ने कहा है:—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारी।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्या धनं सर्वधनप्रधानम् ॥

अर्थात् विद्या को न तो चोर चुरा सकता है, न राजा डांड़ सकता है, न भाई बँटा सकता है; और न कोई इसका बोझा है, फिर व्यय करने से रोज़ बढ़ती है। सचमुच ही विद्याधन सब धनों से श्रेष्ठ है।

६--सत्य

जो बात जैसी देखी, सुनी अथवा की हो, अथवा जैसी वह मन में हो, उसको उसी प्रकार वाणी-द्वारा प्रकट करना सत्य बोलना कहलाता है। मनुष्य को न सिर्फ़ सत्य बोलना ही चाहिए; बल्कि सत्य ही विचार मन में लाना चाहिए; और सत्य ही काम भी करना चाहिए। सर्वथा सत्य का व्यवहार करने से ही मनुष्य को स्वर्ग और परमार्थ में सच्ची सफलता मिल सकती है। जो मनुष्य अपने सब कार्यों में सत्य का धारण करता है, वह क्रियासिद्ध और वाचासिद्ध होजाता है। अर्थात् जो कार्य वह करता है, उसमें निष्फलता कभी होती ही नहीं; और जो बात वह कहता है, वह पूरी ही हो जाती है।

सत्य वास्तव में ईश्वर का स्वरूप है। इस लिए जिसके हृदय में सत्य का वास है, उसके हृदय में ईश्वर का वास है। किसी कवि ने कहा है:—

सांच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदय सांच है, ताके हिरदय आप॥

अर्थात् सत्य के समान और कोई तप नहीं; और झूठ के बराबर कोई पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य का वास है, उसके हृदय में परमात्मा का वास है। इस लिए सत्य का आचरण करने में कभी मनुष्य को पीछे न हटना चाहिए। उपनिषद् में भी यही कहा है:—

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्॥

अर्थात् सत्य से श्रेष्ठ अन्य कोई धर्म नहीं है: और झूठ के बरा-

बर अन्य कोई पातक नहीं है। इसी प्रकार सत्य से श्रेष्ठ और कोई ज्ञान नहीं है। इस लिए सत्य का ही आचरण करना चाहिए।

प्रायः संसार में ऐसा देखा जाता है कि सत्य का आचरण करनेवालों को कष्ट उठाना पड़ता है; और मिथ्याचरणी, पाखंडी धूर्त लोग सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु जो विचार-शील मनुष्य हैं, वे जानते हैं कि, सत्य से प्रथम तो चाहे कष्ट हो; परन्तु अन्त में अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। और मिथ्या आचरण से पहले सुख होता है; और अन्त में उसकी दुर्गति होती है। वास्तव में सच्चा सुख वही है, जो परिणाम में हितकारक हो। देखिये, कृष्ण भगवान् गीता में तीन प्रकार के सुखों की व्याख्या करते हुए कहते हैं:—

> यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
> तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

अर्थात् जो पहले तो विष की तरह कटु और दुःखदायक मालूम होता है; परन्तु पीछे अमृत के तुल्य मधुर और हितकारक होता है, वही सच्चा सात्विक सुख है। ऐसा सुख आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है।

आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता का उपाय क्या है? क्या मिथ्या आचरण से कभी आत्मा और बुद्धि प्रसन्न हो सकती है। सब जानते हैं कि, पापी आदमी की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। उसका पाप ही उसको खाता रहता है। पहले तो वह समझता है कि, मैं मिथ्या आचरण कर के खूब सुखी हूं; पर उसके उसी सुख के अन्दर ऐसा गुप्त विष छिपा हुआ है, जो किसी दिन उसका सर्वनाश कर देगा। उस समय उसे स्वर्ग-

नरक कहीं भी ठिकाना न लगेगा। इस लिए मिथ्या आचरण छोड़ कर के मनुष्य को सदैव सत्य का ही बर्ताव करना चाहिए। इसी से मन और बुद्धि को सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है; और ऐसा सच्चा सुख प्राप्त होता है, जिसका कभी नाश नहीं होता।

सत्य से ही यह सारा संसार चल रहा है। यदि सत्य एक क्षण के लिए भी अपना कार्य बन्द कर दे, तो प्रलय हो जाय। यदि एक मनुष्य कुछ मिथ्या आचरण करता है, तो दूसरा तुरन्त ही सत्य आचरण कर के इस सृष्टि की रक्षा करता है। यह मनुष्य ही की बात नहीं है; बल्कि संसार की अन्य सब भौतिक शक्तियां भी सत्य से चल रही हैं। चाणक्यनीति में कहा है:—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् सत्य से ही पृथ्वी स्थिर है, सत्य से ही सूर्य तप रहा है; और सत्य से ही वायु बह रही है। सत्य में ही सब स्थिर है।

जो लोग सत्य का आचरण नहीं करते हैं, उनकी पूजा, जप, तप, सब व्यर्थ है। जैसे ऊसर भूमि में बीज बोने से कोई फल नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्याचरण करनेवाला, चाहे जितना धर्म करे, सत्य के बिना उसका कोई फल नहीं होता। आजकल प्रायः हमारे देश में देखा जाता है कि, पाखंडी लोग सब प्रकार से मिथ्या व्यवहार कर के, लोगों का गला काट कर, अपने सुखभोग के सामान जमा करते हैं; परन्तु ऊपर ऊपर से अपना ऐसा भेष बनाते हैं कि जैसे ये कोई बड़े भारी साधु और ईश्वरभक्त हों। स्नान-संध्या, जप, तप, सब धर्म के कार्य नियमित रूप से करते हैं, पर कचहरी में जाकर झूठी गवाही देते

हैं। ऐसे लोगों का सब धर्म-कर्म व्यर्थ है। लोग उनको अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। भले आदमियों में उनका आदर कभी नहीं होता। ऐसे धूर्त और पाखंडी लोगों से सदैव बचना चाहिए।

ये लोग ऊपर से सत्य का आवरण रखकर भीतर से मिथ्या व्यवहार करते हैं। जो सीधे-सादे मनुष्य होते हैं, जिनको नीति का ज्ञान नहीं है, वे इनकी 'पालिसी' में आजाते हैं। जिसमें मिथ्या की पालिस की होती है, उसी को 'पालिसी' कहते हैं। पालिसी को सदैव अपने जलते हुए सत्य से जला डालो। क्योंकि ऋषियों ने कहा है—

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

अर्थात् सत्य की ही विजय सदैव होगी। मिथ्या की नहीं। सत्य के ही मार्ग से परमात्मा मिलेगा। सब प्रकार के कल्याण का ज्ञान सत्य से ही होगा। हमारे पूर्वज ऋषिमुनि लोगों ने सत्य का ही मार्ग स्वीकार किया था; और उनमें यह शक्ति होगई थी कि, जिसके लिए वे जो बात कह देते थे, उसके लिए वही होजाता था। चाहे जिसको शाप दे देते, चाहे जिसको बरदान दे देते। यह सत्य-साधना का ही फल था। वे अन्यथा वाणी का उपयोग कभी नहीं करते थे, न कोई अन्यथा बात मन में लाते थे; और न कोई अन्यथा कार्य करते थे। वास्तव में मनुष्य का धर्माधर्म सत्य पर ही निर्भर है। एक सत्य का वर्ताव कर लिया, इसी में सब आगया। फिर कोई उसको अलग धर्म करने की ज़रूरत ही नहीं रह जाती। क्योंकि कहा है:—

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् धर्म, तप, योग, परब्रह्म, यज्ञ, इत्यादि जितना कुछ

कल्याणस्वरूप है, वह सब सत्य ही है। सत्य में सब आ जाता है। इस लिए सदैव आत्मा के अनुकूल आचरण करो। ऐसा न करो कि मन में कुछ और हो, वचन से कुछ और कहो; और करो कुछ और! मन, वाणी और कर्म, तीनों में एकता रखो। यही सत्य है। इसी से तुम्हारा हित होगा; और इसी से तुम संसार का हित कर सकोगे। आइये पाठक, हम सब मिल कर उस सत्यस्वरूप परमात्मा की स्तुति करें, उसी की शरण में चलें, जिसमें वह हमारे हृदय में ऐसा बल देवे कि, हम सत्य की रक्षा और असत्य का दमन कर सकें:—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं,
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यं ऋतुसत्यनेत्रम्
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपद्ये॥

हे सत्यव्रत, हे सत्य से भी श्रेष्ठ, हे तीनों लोक और तीनों काल में सत्यस्वरूप, हे सत्य के उत्पत्तिस्थान, हे सत्य में रहने-वाले, हे सत्य के भी सत्य, हे कल्याणकारी सत्य के मार्ग से ले चलने वाले, सत्य की आत्मा, हम आपकी शरण आये हैं।

१०—अक्रोध

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ये छै मन के विकार हैं, जो मनुष्य के शत्रु माने गये हैं। इन छै विकारों को जिसने जीत लिया, उसने मानो अपने आप को जीत लिया। यही छै विकार मन के अन्दर ऐसे बसते हैं कि जिनके कारण मनुष्य आपही अपना दुश्मन होजाता है; और यदि इनको जीतकर अपने वश में कर लिया जावे, तो मनुष्य आपही अपना मित्र है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
गीता, अ० ६

जिसने अपने-आप को, अपने-आपके द्वारा, जीत लिया है, अर्थात् उपर्युक्त छओ मनोविकारों को अपने वश में कर लिया है, उसका आत्मा उसका मित्र है—अर्थात् इन छओ मनोविकारों को अपने वश में रखकर वह इनसे अपना कल्याण कर सकता है; और जिसने इनको अपने आप वश में नहीं किया है, उसके लिए ये शत्रु तो बने-बनाये हैं। इनके वश में होकर रहनेवाला मनुष्य आप ही अपना घात करने के लिए काफी है। उसके लिए किसी बाहरी शत्रु की आवश्यकता नहीं।

इनमें प्रथम दो विकार, काम और क्रोध, सब से अधिक प्रबल हैं; क्योंकि इन्हीं से अन्य सब विकार पैदा होते हैं। इन दोनों के विषय में श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं:—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
गीता, अ० ३

अर्थात् यह काम और यह क्रोध, जो मनुष्य के रजोगुण अर्थात् अज्ञानमूलक स्वार्थ से पैदा होता है, बड़ा भारी भक्षक, पापी राक्षस है। इस संसार में मनुष्य का यह भारी दुश्मन है। यह किस प्रकार पैदा होता है; और फिर किस प्रकार मनुष्य का नाश करता है, इसका भी क्रम जानने योग्य है:—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
गीता, अ० २

मनुष्य पहले विषयों का चिन्तन करता है। विषयों के चिन्तन से फिर उन विषयों में प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति उत्पन्न होने से फिर उनको पाने की इच्छा उत्पन्न होती है। पाने की इच्छा उत्पन्न होने के बाद, जब इच्छापूर्ति नहीं होती, तब क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक होता है, अर्थात् क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, यह विचार-शक्ति नहीं रहती। जब विचार-शक्ति नहीं रहती, तब वह अपने आप को भूल जाता है; और जब वह अपने आपको भूल गया, तब उसकी बुद्धि—अर्थात् भले-बुरे का विचार कर के किसी निर्णय तक पहुँचने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है; और जहां यह शक्ति नष्ट हुई कि, मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

इस लिए काम से उत्पन्न होनेवाला क्रोध, जो सब पापों का मूल है, उसको वश में करके मनुष्य को अक्रोध बनना चाहिए। अक्रोध का यह मतलब नहीं है कि, क्रोध का कोई भी अंश मनुष्य के अन्दर न रहे। बल्कि इसका इतना ही मतलब

है कि, ऐसे क्रोध को धारण न करो कि जिससे स्वयं अपनी अथवा दूसरे की हानि हो। हां, विवेक के साथ क्रोध करने से कोई हानि नहीं हो सकती। क्रोध के साथ यदि विवेक शामिल होता है, तो वह क्रोध तेज के रूप में परिवर्तित हो जाता है। महाभारत में कहा हैः—

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्वदर्शिनः॥
महाभारत, बनपर्व।

क्रोध उत्पन्न होने पर जो मनुष्य विवेक के द्वारा उसको अपने अन्दर ही रोक लेता है, उसको विद्वान् तत्वदर्शी पुरुष तेजस्वी कहते हैं; और इस तेजस्विता की मनुष्य के लिए बड़ी ज़रूरत है। तेजस्वी मनुष्य अन्दर से कोमल रहता है; परन्तु ऊपर से कठोरता धारण करता है। दुष्टों का दमन करने और पीड़ितों को अत्याचार से छुड़ाने के लिए तेजस्विता दिखानी पड़ती है। तेजस्विता ही शूरता और निर्भयता की जननी है। तेजस्वी पुरुष की बुद्धि सदैव निर्मल रहती है। वह क्रोध करता है; परन्तु क्रोध के कारण उसके हाथ से कोई अनर्थ अथवा पाप नहीं होने पाता। इसी लिए कहा है कि—

क्रोधेऽपि निर्मलधियां रमणीयतास्ति।

अर्थात् जिसकी बुद्धि पापरहित है, उसके क्रोध में भी एक प्रकार का सौन्दर्य रहता है। साधु पुरुष के क्रोध से भी कल्याण होता है। वे जिसके ऊपर क्रोध करते हैं, उसका भला होता है।

सर्वसाधारण लोगों को चाहिए कि, छोटी-छोटी बातों पर अथवा बिना कारण, क्रोध करने की आदत न डालें। यदि किसी कारणवश क्रोध आजावे, तो उसको साधने का प्रयत्न करें, और यदि क्रोध करने की आवश्यकता ही मालूम हो, तो

अपने आपे में रहकर तात्कालिक थोड़ा सा क्रोध दिखलाकर फिर तुरन्त शान्ति धारण करलें। दूसरा यदि क्रोध करता हो, तो कभी उसके बदले में क्रोध न करना चाहिए। बल्कि ऐसे मौके पर स्वयं पूर्ण शान्ति धारण करके उसके क्रोध को शान्त करना चाहिए:—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।

महाभारत, उद्योगपर्व।

अक्रोध अर्थात् शान्ति से क्रोध को जीते; और दुष्टता को सज्जनता से जीते। व्यर्थ क्रोध करने से अपना ही हृदय जलता है, दूसरे की कोई हानि नहीं होती। क्रोध में आकर जब मनुष्य अपने आपे से बाहर हो जाता है, तब अपने बड़े बड़े प्रियजनों की भी हत्या कर डालता है; और जब कभी वही क्रोध घोर दुःख और पश्चात्ताप के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब मनुष्य आत्महत्या करने में भी नहीं चूकता। किसी कवि ने कहा है:—

क्रोधस्य कालकूटस्य विद्यते महदन्तरम्।
स्वाश्रयं दहति क्रोधः कालकूटो न चाश्रयम्॥

अर्थात् क्रोध और कालकूट ज़हर में एक बड़ा भारी अन्तर है—क्रोध जिसके पास रहता है, उसी को जलाता है; परन्तु ज़हर जिसके पास रहता है, उसको कोई हानि नहीं पहुँचाता।

क्रोध से दुर्बलता आती है। शान्ति से बल बढ़ता है। इस लिए काम क्रोधादि सब दुष्ट मनोविकारों को अपने अन्दर ही मारकर शान्ति धारण करना चाहिए। शान्ति से चित्त प्रसन्न रहता है, मन और शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है। जिसके हृदय में सदैव शान्ति रहती है, उसके चेहरे पर भी शान्ति विराजती है। उसके प्रफुल्ल और प्रसन्न वदन को देखकर देखने

वाले को आनन्द प्राप्त होता है। इसके विरुद्ध जिसके मन में सदैव क्रूरता और क्रोध के भाव उठते रहते हैं, उसका चेहरा विकृत और बदसूरत हो जाता है। ऐसे मनुष्य को देखकर घृणा होती है। इस लिए मन, वचन और कर्म तीनों में मधुरता और शान्ति धारण करने से मनुष्य स्वयं सुखी रहता है; और संसार को भी उससे सुख होता है। वेद में कहा है:—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥
अथर्व वेद।

अर्थात् हमारा आचरण मधुरतापूर्ण हो, हम जिस कार्य में तत्पर हों, वह मधुरतापूर्ण हो, हम मधुर वाणी बोलें, हमारा सब कुछ मधुमयी हो।

धर्मग्रन्थ

वेद

हिन्दुओं का मूल ग्रन्थ वेद है। यह सृष्टि के आदि में परमात्मा ने उत्पन्न किया। वेद-ग्रन्थ चार हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, और (४) अथर्ववेद। चारों वेद परमात्मा से ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए। इस विषय में ऋग्वेद में ही उल्लेख है:—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।

—ऋग्वेद

अर्थात् उस परम पूज्य यज्ञस्वरूप परमात्मा से ही ऋक्, साम, छन्द, (अथर्व) और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। अब प्रश्न यह है कि, सृष्टि के आदि में परमात्मा ने वेदों के मंत्र कैसे उत्पन्न किये। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है:—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदोयजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।

बृहदारण्यक

उस महाभूत परमात्मा के निःश्वास से चारों वेद निकले। क्या परमात्मा ने श्वास छोड़ा था? हां, किस प्रकार? उसका ज्ञान ही उसका श्वास है। यह श्वास उसने सृष्टि के आदि में चार ऋषियों के हृदय में छोड़ा था। ये चार ऋषि पहले पहल सृष्टि में उत्पन्न हुए। उन्हीं चार ऋषियों के द्वारा वेद प्रकट हुए। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है:—

अग्नेऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।

शतपथ ब्रा०

अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ऋषि के हृदय में परमात्मा ने पहले पहल क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान प्रकाशित किया। अपने हृदय में इन चारों ऋषियों ने परमात्मा का ज्ञान सुना; और इसी लिए वेदों का नाम 'श्रुति' पड़ा।

वेद में ही परमात्मा ने अखिल मानवजाति के लिए धर्म का ज्ञान दिया है। फिर वेदों से ही अन्य सब ग्रन्थों में ज्ञान का विकास हुआ है। अर्थात् संसार के अन्य सब ग्रन्थ वेदों के बाद रचे गये हैं; और उन सब में वेदों के ज्ञान की ही भिन्न भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है।

उपवेद

प्रत्येक वेद का एक एक उपवेद है—जैसे (१) ऋग्वेद का अर्थवेद, जिसमें विज्ञान, कलाकौशल, कृषि वाणिज्य, इत्यादि धन उत्पन्न करने के साधनों का वर्णन है। (२) यजुर्वेद का धनुर्वेद, जिसमें राजनीति, शस्त्र-अस्त्र की कला और युद्धविद्या का वर्णन है; (३) सामवेद का गान्धर्ववेद, जिसमें संगीतशास्त्र का वर्णन है; (४) अथर्ववेद का आयुर्वेद, जिसमें बनस्पति, रसायन और शारीर शास्त्र इत्यादि का वर्णन है।

वेदाङ्ग

वेद के छै अंग हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। ये छओ अंग भी वेद की व्याख्या करते हैं।

वेदोपाङ्ग

छै अंगों की तरह वेद के छै उपांग भी हैं। उनके नाम ये हैं:—(१) न्याय, गौतम ऋषि का बनाया हुआ; (२) वैशेषिक, कणाद ऋषि का रचा हुआ; (३) सांख्य, महर्षि कपिल का निर्मित किया हुआ; (४) योग, भगवान् पतंजलि का; (५) मीमांसा, महर्षि जैमिनि का; (६) वेदान्त, महर्षि बादरायण उपनाम वेदव्यास का रचा हुआ। वेद के इन्हीं छै उपांगों को छै शास्त्र या षड्दर्शन भी कहते हैं। इनमें ईश्वर, जीव और सृष्टि का तत्वविचार है। सब का परस्पर-सम्बन्ध और बन्ध-मोक्ष का उत्तम विचार है। ये भी सब वेद की ही व्याख्या करते हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थ

वेदों की व्याख्या करनेवाले कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जिनमें

ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ, ये चार मुख्य ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। इनमें क्रमशः ऋक, यजु, साम और अथर्व के कर्मकांड की प्रधानता से व्याख्या की गई है। ज्ञानकांड भी है।

उपनिषद्

उपनिषद् मुख्यतया ग्यारह हैं;—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वेतर। सब उपनिषद् प्रायः वेदों के ज्ञानकांड की ही, प्रधानता से, व्याख्या करते हैं।

स्मृति-ग्रन्थ

स्मृतिग्रन्थ मुख्य मुख्य अठारह हैं:—मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, औशनस, आंगिरस, यम, आपस्तब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पाराशर, व्यास, शंख, दक्ष, शातातप, वसिष्ठ। ये अष्टादश स्मृतियां भिन्न भिन्न ऋषियों की रची हुई उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये वेद के धर्माचार की, अपने अपने मतानुसार, व्याख्या करती हैं। मनुस्मृति सब से प्राचीन और सर्वमान्य समझी जाती है।

पुराण

पुराण ग्रन्थ भी मुख्यतया अठारह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़, और ब्रह्माण्डपुराण। सब पुराण प्रायः व्यासजी के रचे हुए माने जाते हैं। इनमें विशेष कर इतिहास का वर्णन और देवताओं की स्तुति है। बीच बीच में वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना कांड की व्याख्या भी मौजूद है।

काव्य

हिन्दूधर्म के दो बहुत बड़े महाकाव्य हैं—रामायण और महाभारत। रामायण महर्षि बाल्मीकि और माहाभारत महर्षि व्यास का रचा हुआ है। पहले काव्य में मर्यादापुरुषोत्तम महाराजा रामचन्द्रजी का आदर्शचरित्र वर्णन किया गया है; और दूसरे में विशेष कर कौरवों-पांडवों के युद्ध की कथा है। इसके अतिरिक्त और भी बहुतसा इतिहासिक वर्णन है। हिन्दू धर्म का छोटा, परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण, धर्मग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता भी माहाभारत के ही अन्तर्गत है। यह महायोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् का अर्जुन को बतलाया हुआ ज्ञानग्रन्थ है। महाभारत हिन्दुओं का बड़ा भारी धार्मिक ग्रन्थ है। यहां तक कि इसको पांचवां वेद कहा गया है। इस ग्रन्थ में नीति और धर्म के सब तत्व, बड़ी ही सरलता के साथ, अनेक प्रसंगों के निमित्त से, बतला दिये गये हैं। एक विद्वान् ने कहा है:—

> भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः।
> गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता।

महाभारत में वेदों का सारा अर्थ आगया है; और महाभारत का सम्पूर्ण सार गीता में आ गया है। इस लिए गीता सब शास्त्रों का संग्रह मानी गई है।

दूसरा खण्ड

वर्णाश्रमधर्म

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"

—गीता, अ० १८-४५ ।

चार वर्ण

हम हिन्दुओं में चार वर्ण पहले से ही माने गये हैं। ये वर्ण इस लिए माने गये हैं कि, जिससे चारों वर्ण अपने अपने धर्म या कर्त्तव्य का उचित रूप से पालन करते रहें। वेदों में चारों वर्णों का इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
> ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अर्थात् विराटरूप ईश्वर के चार अंग हैं। ब्राह्मण मुख है। राजा लोग, अर्थात् क्षत्रिय, भुजा हैं। वैश्य शरीर का धड़ या जंघा हैं; और शूद्र पैर हैं।

इस प्रकार से हमारे धर्म में चारो वर्णों के कर्त्तव्यों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। मुख या शिरोभाग ज्ञानप्रधान है, इस लिए ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है कि, वे विद्या और ज्ञान के द्वारा सब वर्णों की सेवा करें। राजा लोग, अर्थात् क्षत्रिय, बल-प्रधान हैं, इस लिए उनको उचित है कि, प्रजापालन और दुष्टों का दमन करके देश की सेवा करें। वैश्य लोग धनप्रधान या व्यवसायप्रधान हैं, इस लिए उनको उचित है कि, जैसे शरीर का मध्यभाग भोजन पाकर सारे शरीर में उसका रस पहुँचा देता है, उसी प्रकार वैश्य लोग भी व्यवसाय-द्वारा धन कमा कर देश की सेवा में उसको लगायें। रहे शूद्र लोग, इनका कर्त्तव्य है कि, अपनी अन्य सेवाओं के द्वारा जनसमाज की सेवा करें।

अब ध्यान रखने की बात यह है कि, इन चारों वर्णों में कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं है। सब अपने अपने कर्मों में श्रेष्ठ हैं।

कोई भी यदि अपने कर्म को नहीं करेगा, तो वह दोष का भागी होगा—चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र। देश या जनसमाज के लिए सब की समान ही आवश्यकता है। शरीर में से यदि कोई भी भाग न रहे, अथवा निकम्मा हो जाय, तो दूसरे का काम नहीं चल सकता। सारा शरीर ही निकम्मा हो जायगा। इसी प्रकार चारों वर्णों का भी हाल है। यदि कोई कहे कि शूद्र छोटा है, तो यह उसकी बड़ी भारी भूल है। क्योंकि शरीर यदि अपने पैरों की सेवा न करे, लापरवाही से काम ले, अथवा उनको कष्ट दे, तो अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारने के समान होगा। देश को विद्या, बल, धन और श्रमसेवा चारों की समान ही आवश्यकता है। इन्हीं चारों की समतुल्यता और पारस्परिक आदर-भाव जब से इस धर्मप्रधान देश से उठ गया, तभी से यह देश पराधीन होकर पीड़ित हो रहा है। सब कष्ट में हैं। इस लिए चारों वर्णों को, एक दूसरे का आदर करते हुए, अपने अपने धर्म या कर्त्तव्य का पालन बराबर करते रहना चाहिए। हमारे धर्मग्रन्थों में चारों वर्णों के जो कर्त्तव्य बतलाये गये हैं, वे नीचे लिखे जाते हैं :—

ब्राह्मण

मनु महाराज ने ब्राह्मण का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया है :—

> अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
> दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
>
> मनुस्मृति।

स्वयं विद्या पढ़ना और दूसरे को पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना दूसरे को कराना, स्वयं दान लेना और दूसरे को दान देना—ये

छै कर्म ब्राह्मण के हैं। परन्तु मनुजी एक जगह "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः" कह कर बतलाया है कि, दान लेना यद्यपि ब्राह्मण का कर्म अवश्य है; क्योंकि और कोई दान नहीं ले सकता; परन्तु यह ब्राह्मण के सब कर्मों से नीच कर्म है। अर्थात् दान ले करके दान देना ज़रूर चाहिए, अन्यथा उसका प्रायश्चित्त नहीं होगा; और इसी कारण दान लेने के कर्त्तव्य का नाम प्रतिग्रह रखा गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण भगवान् ने ब्राह्मण के कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाये हैं:—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

भगवद्गीता।

अर्थात् १ शम—मन से बुरे काम की इच्छा भी न करना; और उसको अधर्म में प्रवृत्त न होने देना, २ दम—सब इन्द्रियों को बुरे काम से रोक कर अच्छे काम में लगाना, ३ शौच—शरीर और मन को पवित्र रखना, ४ शान्ति—निन्दा-स्तुति, सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, हर्ष-शोक, मान-अपमान, शीत-उष्ण, इत्यादि जितने द्वन्द्व हैं, सब में अपने मन को समतोल रखना, अर्थात् शान्ति, क्षमा, सहनशीलता धारण करना, ५ आर्जव—कोमलता, सरलता, निरभिमानता धारण करना, ६ ज्ञान—विद्यापढ़ना-पढ़ाना, और बुद्धि-विवेक धारण करना, ७ विज्ञान—जीव, ईश्वर, सृष्टि, इत्यादि का सम्बन्ध विशेष रूप से जान कर संसार के हित में इनका उपयोग करना, ८ आस्तिक्य—ईश्वर और गुरुजनों की उपासना और सेवा-भक्ति करना।

ये सब ब्राह्मण के कर्त्तव्य हैं। यों तो ये सब कर्त्तव्य ऐसे

हैं, जिनको चारों वर्णों को, अपने अपने अनुसार, धारण करना चाहिए; परन्तु ब्राह्मण के लिए तो ये स्वाभाविक हैं। ब्राह्मण यदि इन कर्मों से च्युत हो जाय, तो शोचनीय है।

क्षत्रिय

क्षत्रिय अर्थात् राजा के कर्त्तव्य मनु महाराज ने इस प्रकार बतलाये हैं:—

> प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
> विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
>
> मनुस्मृति

अर्थात् (१) न्याय से प्रजा की रक्षा करना, पक्षपात छोड़ कर श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सब का यथायोग्य पालन करना; (२) प्रजा को विद्या-दान देना-दिलाना, सुपात्रों का धन इत्यादि से सत्कार करना; (३) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना; (४) वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना; (५) विषयों में न फँस कर सदा जितेन्द्रिय रहते हुए शरीर और आत्मा से बलवान् रहना; ये सब क्षत्रिय के कर्त्तव्य हैं।

कृष्ण भगवान् अपनी गीता में क्षत्रिय के कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाते हैं:—

> शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
> दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥
>
> भगवद्गीता।

अर्थात् (१) शौर्य—सैकड़ों-हज़ारों शत्रुओं से भी अकेले युद्ध करने में भय न होना; (२) तेज—तेजस्विता और दुष्टों पर आतंक रखना; (३) धृति—साहस, दृढ़ता और धैर्य का धारण

करना; (४) दाक्ष्य—राजनीति और शासनकार्य में दक्षता रखना; (५) युद्ध में किसी प्रकार से भगे नहीं, जिस तरह हो, शत्रु का नाश करे; (६) विद्यादानादि से प्रजा का पालन करना; (७) सदा सर्वत्र परमात्मा को देखना; और अकारण किसी प्राणी को कष्ट न देना।

वैश्य।

वैश्य के कर्म मनु महाराज ने इस प्रकार बतलाये हैं:—

> पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
> बणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
>
> मनुस्मृति।

अर्थात् (१) पशुरक्षा—गाय आदि पशुओं का पालन और रक्षण; (२) दान—विद्या और धर्म की वृद्धि करने के लिए धन ख़र्च करना; (३) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना; (४) अध्ययन—वेदादि शास्त्रों और विज्ञानों का पढ़ना; (५) सब प्रकार से अपने देश के व्यापार की वृद्धि करना; (६) समुचित व्याज का व्यापार, अर्थात् साहूकारा या महाजनी का काम करना; (७) कृषि, अर्थात् खेती करना, हल जोतना, इत्यादि।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी वैश्य के कर्त्तव्य यही बतलाये गये हैं।

शूद्र।

मनु महाराज ने शूद्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया है:—

> एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
> एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
>
> मनु०

अर्थात् ईर्षा-द्वेष, निन्दा, अभिमान इत्यादि दोषों को छोड़कर

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना ही एक-मात्र शूद्र का कर्त्तव्य है।

मनुजी ने ठीक कहा है; परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि, शूद्र तो हमारा दास या गुलाम है, हम चाहे जिस तरह उससे सेवा लेवें। वास्तव में सेवाधर्म बड़ा गहन है; और सब धर्मों से पवित्र है। जिस प्रकार अन्य तीनों वर्ण अपने अपने कर्त्तव्यों में स्वतंत्र; परन्तु जहां दूसरों का सम्बन्ध आता है, वहां परतंत्र है, उसी प्रकार शूद्र भी अपने कर्म में स्वतंत्र है। वह अपने धर्म को समझ कर सेवा करेगा; और अन्य वर्णों को चाहिये कि, वे भी अपने धर्म को ही समझकर उससे सेवा का कार्य लेवें। परस्पर एक दूसरे का आदर करें। क्योंकि शूद्र के सेवा-धर्म पर ही अन्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इत्यादि द्विजातियों का जीवन अवलम्बित है।

पुराणों में शूद्रों के कर्त्तव्य का और भी अधिक खुलासा किया गया है। बाराहपुराण में शूद्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया है:—

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवनवान् भवेत् ।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेत् द्विजातिहितमाचरन् ॥

बाराह पुराण

अर्थात् शूद्र लोग तीनों द्विजातियों का हित करते हुए उनकी सेवा करें; और शिल्पविद्या (कारीगरी, विज्ञान) इत्यादि अनेक कर्मों से अपनी आजीविका करें। गरुड़ पुराण में तो और भी अधिक खुलासा किया गया है। देखिये:—

शुश्रूषैव द्विजातीनां शूद्राणां धर्मसाधनम् ।
कारुकर्म तथाऽऽजीवः पाकयज्ञोऽपि धर्मतः ॥

गरुड़पुराण

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इत्यादि द्विजातियों की सेवा करना तो उनका धर्म हैही; परन्तु साथही नाना प्रकार के शिल्प, कला, विज्ञान, इत्यादि से भी वे अपनी जीविका कमा सकते हैं। यही नहीं, बल्कि धर्म से रसोई का भी काम कर सकते हैं। अर्थात् धर्म के दश लक्षण जो मनुजी ने बताये हैं; और जिनका वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र हो चुका है; और जो लक्षण सब वर्णों के लिए सर्वसाधारण हैं; वे यदि शूद्र में पाये जायँ, अर्थात् शूद्र अवगुणी न हो, पवित्रता से रहता हो, तो रसोई का काम भी उसीका है; और यही कारण है कि, आजकल जो ब्राह्मण रसोइये का काम करते हैं, उनकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। गीता में भगवान् कृष्ण ने शूद्र का कर्त्तव्य बतलाते हुए 'परिचर्या' शब्द का उपयोग किया है:—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।

गीता

इस 'परिचर्या' में सभी बातें आजाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि, शूद्र हमारे समाज के लिए सब से अधिक आवश्यक और शुद्ध अंग है। जैसे विष्णु के चरणों से गंगा निकली हैं; और उनका स्नान करके हम पवित्र होते हैं, उसी प्रकार शूद्र भी इस विराट-ईश्वर के चरणों से निकले हैं। वे भी गंगा की तरह पवित्र हैं। उनका यदि आदर किया जायगा, तो वे हमको पवित्र किये बिना न रहेंगे।

वर्ण-भेद

अब यह देखना चाहिए कि यह वर्ण-भेद क्यों किया गया। क्या ईश्वर का यही हेतु था कि मनुष्यजाति में फूट पड़ जावे, सब एक दूसरे से अपने को अलग समझ कर—मिथ्या अभि-

मान में आकर—देश का सत्यानाश करें ? कृष्ण भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है:—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥

अर्थात् गुण-कर्म के विभाग के कारण मैंने चारों वर्णों को बनाया है। यों तो मैं अविनाशी हूं, अकर्त्ता हूं, मुझे कोई ज़रूरत नहीं है कि इस पाखंड में पड़ूं, लेकिन फिर भी सृष्टि के काम—राष्ट्र के काम—समुचित रूप से चलते रहें, इसी कारण मुझे कर्त्ता बनना पड़ा है।

सो चारों वर्ण उस एक ही पिता के पुत्र हैं। उनमें भेद कैसा ? भविष्यपुराण में इसी का खुलासा किया गया है:—

चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च ।
तेषां सुतानां खलु जातिरेका ॥
एवं प्रजानां हि पितैक एव ।
पित्रैकभावान् न च जातिभेदः ॥

भविष्यपुराण

अर्थात् चारों एक ही पिता के पुत्र हैं (सब राष्ट्र के रखवाले हैं) सब पुत्र एक ही जाति के हैं। जब सब एक ही पिता के पुत्र हैं, तब उनमें जातिभेद कैसा ?

यही बात श्रीमद्भागवत पुराण में भी कही गई है:—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः ।
देवो नारायणो नान्यः एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥

श्रीमद्भागवत

अर्थात् पहले सिर्फ एक वेद था, सम्पूर्ण साहित्य सिर्फ एक प्रणव ओंकार में ही आ जाता था; सिर्फ एक नारायण ईश्वर था, एक ही अग्नि था; और एक ही वर्ण था। इसके सिवाय

और कोई भेद नहीं था। मनुष्यों में राष्ट्रकार्य की सुविधा के लिए जब चार कर्मों की कल्पना हुई, तब चार वर्ण बने। महाभारत में भी यही कहा है:—

> न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
> ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

अर्थात् वर्णों में कोई विशेषता नहीं, सारा संसार परमात्मा का रचा हुआ है। कर्म के कारण से चार वर्णों की सृष्टि हुई है।

अब अधिक लिखना आवश्यक नहीं है। आजकल तो चार वर्ण की जगह पाँच वर्ण तक हो गये हैं; और एक वर्ण अन्त्यज कहला कर अस्पर्श्य भी माना जाता है। यह बड़ा भारी पाप है। अन्य भी हज़ारों जातिभेद उत्पन्न हो गये हैं, जिनसे राष्ट्र की एकता छिन्नभिन्न हो गई है। शत्रु इससे लाभ उठाकर हमको और हमारे धर्म को और भी बरबाद कर रहे हैं। हम पूछते हैं कि, यह पंचम वर्ण, और जातियों के हजारों भेद, कहां से आये? यह सब हमारी मूर्खता और अज्ञानता का फल है। मनुजी ने कहा है:—

> ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णा द्विजातयः।
> चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः॥

अरे, चार तो वर्ण ही हैं; पांचवां अपनी मूर्खता और अज्ञानता से क्यों ले आये। संसार में, गोघातक को छोड़कर, और कोई भी कार्य करनेवाला मनुष्य अस्पृश्य नहीं है। शूद्र तो हमारा अंग है। उनको शौच से रहना सिखलाओ; स्वयं भी धर्म के अंगों का धारण करो। ये आप ही धार्मिक बन जायँगे। सब मिलकर अपने देश और धर्म के हित की ओर देखो। अपनी फूट को मिटाओ। शत्रुओं को उससे लाभ उठाने का मौका न दो।

चार आश्रम

साधारण तौर पर मनुष्य की अवस्था सौ वर्ष की मानी गई है। "शतायुर्वै पुरुषः" ब्राह्मण ग्रन्थों का वचन है। महर्षियों ने इस सौ वर्ष की अवस्था को चार विभागों में विभाजित किया है। उन्हीं चार भागों को आश्रम कहते हैं। आश्रमों की आवश्यकता इस कारण से है, कि जिससे मनुष्य अपने इस लोक और परलोक के सब कर्त्तव्यों को नियमानुसार करे—ऐसा न हो कि, एक ही प्रकार के कार्य में ज़िन्दगी-भर लगा रहे। प्रत्येक आश्रम के कर्त्तव्य २५।२५ वर्ष में बांट दिये गये हैं। महाकवि कालिदास ने चारों आश्रमों का कर्त्तव्य संक्षिप्त रूप से, बड़ी सुन्दरता के साथ, एक श्लोक में बतला दिये हैं:—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

प्रथम २५ वर्ष तक शैशवावस्था रहती है। इसमें विद्याध्ययन करना चाहिए। दूसरी यौवनावस्था है। इसमें सांसारिक विषयों का कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। इसके बाद बुढ़ापा शुरू हो जाता है। इस अवस्था में मुनिवृत्ति से रहकर परमार्थ का मनन करना चाहिए। इसके बाद अन्त के २५ वर्षों में योगाभ्यास करके शरीर छोड़ना चाहिए। इस नियम से यदि जीवन व्यतीत किया जायगा, तो मनुष्य-जीवन के चारों पुरुषार्थ, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सहज में सिद्ध हो सकेंगे।

ऋषियों ने इन चारों आश्रमों के नाम इस प्रकार रखे हैं:—(१) ब्रह्मचर्य; (२) गृहस्थ; (३) वानप्रस्थ; (४) सन्यास। अब इन चारों आश्रमों का क्रमशः, संक्षेप में वर्णन किया जाता है:—

ब्रह्मचर्य

विद्याभ्यास अथवा ईश्वर के लिए जिस व्रत का आचरण किया जाता है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह व्रत साधारणतया पुरुषों को २५ वर्ष की अवस्था तक और स्त्रियों को १६ वर्ष की अवस्था तक पालन करना चाहिए। यह नियम उन लोगों के लिए है, जो आगे चल कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहते हैं; और जो जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं, उनकी बात अलग है।

ब्रह्मचर्य का ख़ास कर्त्तव्य यह है कि, सब इन्द्रियों का संयम करके एक विद्याभ्यास में ही अपना पूरा ध्यान लगा दे। विशेष कर वीर्य की रक्षा करते हुए सब विद्याओं का अध्ययन करे। वीर्यरक्षा का महत्व अलग एक पाठ में बतलाया गया है। इसलिए यहां विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। यहां तो वास्तव में हम सिर्फ ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्यों का थोड़ा सा वर्णन करेंगे।

ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों वर्णों के बालकों का क्रमशः ५, ६ और ७ वर्ष की अवस्था में * उपनयन संस्कार कराके वेदारम्भ करा दे; शूद्रों को भी ब्रह्मचर्य द्वारा विद्याभ्यास करावे। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष

---

* शूद्र का उपनयन संस्कार होना चाहिए अथवा नहीं, इसमें ऋषियों में मतभेद है। पारस्कर गृह्यसूत्र टीका में लिखा है:—

शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्।

अर्थात् धार्मिक शूद्र का उपनयन करना चाहिए। जो हो; परन्तु विद्याभ्यास चारों वर्णों के लिए है। इस विषय में किसी को मतभेद नहीं है।

की अवस्था तक का होता है। इसको धारण करनेवाला आदित्य ब्रह्मचारी कहलाता है। इसके मुख पर सूर्य के समान कांति झलकती है। मध्यम ब्रह्मचर्य ४४ वर्ष की उम्र तक होता है, इसको रुद्र कहते हैं। यह ऐसा शक्तिशाली होता है, कि सज्जनों की दुष्टों से रक्षा करता है, और दुष्टों को दण्ड देकर रुलाता है। निकृष्ट ब्रह्मचर्य २५ वर्ष तक की अवस्था का कहलाता है। इसको वसु कहते हैं। यह भी उत्तम गुणों को हृदय में धारण करता है। इस लिए आजकल कम से कम २५ वर्ष की अवस्था तक पुरुषों को और १६ वर्ष की अवस्था तक स्त्रियों को अखंड-वीर्य रहकर विद्याभ्यास अवश्य ही करना चाहिए। इसके बाद गृहस्थाश्रम का स्वीकार करना चाहिए।

बालक और बालिकाएं अलग अलग अपने अपने गुरुकुलों में विद्याभ्यास करें। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक परस्पर स्त्री-पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त-सेवन, सम्भाषण, विषय-कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान, और परस्पर संग, इन आठ प्रकार के मैथुनों का त्याग करें। स्वप्न में भी वीर्य को न गिरने दें। जब विषय का ध्यान ही न करेंगे, तो स्वप्न में भी वीर्य कैसे गिरेगा। आजकल पाठशालाओं में बालकगण हस्तक्रिया इत्यादि से वीर्य को नष्ट करके किस प्रकार अपने जीवन को बरबाद करते हैं, सो बतलाने की आवश्यकता नहीं। वीर्य की रक्षा न करने से ही हमारी सन्तान की ऐसी अधोगति हो रही है। हमारे देश से शूरता-वीरता नष्ट हो गई है और सन्तान बिलकुल निर्बल तथा निकम्मी पैदा होती है। अध्यापकों और गुरुओं को चाहिए कि, वे स्वयं सदाचारी रहकर अपने शिष्यों को

विद्वान्, शूरवीर और निर्भय बनावें। उनको वीर्यरक्षा का महत्व बराबर समझाते रहें।

ब्रह्मचारियों को चाहिए कि, वे ऐसा कोई कार्य न करें, जिससे किसी को कष्ट हो। सत्य का धारण करें। किसी की प्रिय वस्तु को लेने की इच्छा न करें। किसी से कुछ न लेवें। वीर्य की रक्षा की ओर विशेष ध्यान दें। मन और शरीर को शुद्ध रखें। सन्तोषवृत्ति धारण करें। सत्कार्यों में कष्ट सहने की आदत डालें। बराबर पढ़ते और अपने सहपाठियों को पढ़ाते रहें। परमात्मा की भक्ति अपने हृदय से कभी न टलने दें। गुरु पर पूर्ण श्रद्धा रखें। वृद्धों की सेवा अवश्य करते रहें। परस्पर मधुर भाषण करें। एक दूसरे का हित चाहते रहें। विद्यार्थी को सब प्रकार के सुख त्याग देने चाहिएं। विदुरनीति में कहा है:—

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥
विदुर०

अर्थात् सुख चाहनेवाले को विद्या कहां; और विद्या चाहने वाले को सुख कहां? (दोनों में बड़ा भेद है) इस लिए जो सुख की परवा करे, तो विद्या पढ़ना छोड़ दे; और यदि विद्या पढ़ने की चाह हो, तो सुख को छोड़ दे।

आजकल के हमारे कालेज और स्कूलों के विद्यार्थी, जो ऐश-आराम में रह कर विद्या पढ़ते हैं, उनकी विद्या सफल नहीं होती, और न देश के लिए लाभकारी होती है, इसका कारण यही है कि, उनमें कष्टसहिष्णुता का भाव नहीं होता; और न उनको सच्ची कार्यकारिणी विद्या ही पढ़ाई जाती है। सिर्फ पुस्तकी विद्या पढ़कर रोटियों की फिक्र में पड़ जाते हैं। ऐसी विद्या का त्याग करके प्राचीन ऋषिमुनियों के उपदेश को

अनुसार सच्ची विद्या का अभ्यास करना चाहिए। मनुजी ने ब्रह्मचारी के लिए निम्नलिखित नियमों के पालन करने का उपदेश दिया है:—

> वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
> शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
> अभ्यंगमंजनं चाक्ष्णो रुपानच्छत्रधारणम्।
> कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
> द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
> स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
> एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
> कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥
>
> मनु०

मद्य, मांस, इतर-फुलेल, माला, रस-स्वाद, स्त्री-संग, सब प्रकार की खटाई, प्राणियों को कष्ट देना, अंगों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अंजन, जूते और छाते का धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाच, गाना, बजाना, जुआ, दूसरे की बात कहना, किसी की निन्दा, मिथ्या भाषण, स्त्रियों की ओर देखना, किसी का आश्रय चाहना, दूसरे की हानि, इत्यादि कुकर्मों को ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी सदैव त्यागे रहें। सदा अकेले सोवें। कभी वीर्य को स्खलित न करें। यदि वे कभी जान-बूझकर वीर्य को स्खलित कर देंगे, तो मानो ब्रह्मचर्यव्रत को सत्यानाश करेंगे।

यह महर्षि मनु की विद्यार्थियों के लिए अमूल्य शिक्षा है। इसी प्रकार के नियमों का पालन करके जो स्त्री और पुरुष विद्याभ्यास करते हैं, वे विद्वान्, शूरवीर, देशभक्त और परोपकारी बनकर अपना मनुष्यजीवन सार्थक करते हैं।

तैत्तरीय उपनिषद् में गुरु के लिए भी लिखा हुआ है कि, वह अपने शिष्यों को किस प्रकार का उपदेश करे। उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

गुरु अपने शिष्यों और शिष्याओं को इस प्रकार का उपदेश करे:—

तुम सदा सत्य बोलो। धर्म पर चलो। पढ़ने-पढ़ाने में कभी आलस्य न करो। पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं का अध्ययन करके अपने गुरु का सत्कार करो; और फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके सन्तानोत्पादन अवश्य करो। सत्य में भूल न करो। धर्म में कभी आलस्य न करो। आरोग्यता की ओर ध्यान रखो। सावधानी कभी न छोड़ो। धनधान्य इत्यादि ऐश्वर्य की वृद्धि में कभी न चूको। पढ़ने-पढ़ाने का काम कभी न छोड़ो। साधुओं, विद्वानों और गुरुजनों की सेवा में न चूको। माता, पिता, आचार्य और अतिथि की देवता के समान पूजा करो। उनको सन्तुष्ट रखो। जो अच्छे कार्य हैं, उन्हीं को सदा करो। बुरे कामों को छोड़ दो। और (गुरु कहता है) हमारे भी जो सुचरित्र हैं, धर्माचरण हैं, उन्हीं का तुम ग्रहण करो; औरों का नहीं। हम लोगों में जो श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष हैं, उन्हीं के पास बैठो-उठो; और उन्हीं का विश्वास करो। दान देने में कभी न चूको। श्रद्धा से, अश्रद्धा से, नाम के लिए, लज्जा के कारण, भय के कारण अथवा प्रतिज्ञा कर ली है, इसी कारण—मतलब, जिस तरह से हो, दो—देने में कभी न चूको। यदि कभी तुमको किसी कार्य में, अथवा किसी आचरण में, कोई शंका हो, तो विचारशील, पक्षपातरहित, साधुमहात्मा, विद्वान्, दयालु, धर्मात्मा पुरुषों के आचरण को देखो; और

जिस प्रकार उनका वर्ताव हो, वैसा ही वर्त्ताव तुम भी करो। यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद-उपनिषद् की आज्ञा है। यही शिक्षा है। इसी को धारण करके अपना जीवन सुधारना चाहिए।

विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियों के लिए इससे अधिक अमृत-तुल्य शिक्षा और क्या हो सकती है। हमारे देश के बालक और युवा यदि इसी प्रकार की शिक्षा पर चल कर, २५ वर्ष की अवस्था तक, विद्याध्ययन करके तब संसार में प्रवेश किया करें, तो देश में फिर भी पहले की भांति स्वतंत्रता आ सकती है। क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही अन्य आश्रमों की जड़ है। इसकी ओर ध्यान न रहने से ही अगले अन्य तीनों आश्रमों की भी दुर्दशा हो रही है।

गृहस्थ

जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम सब आश्रमों की जड़ है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रय-स्थान है। इस आश्रम को ऋषियों ने सब से श्रेष्ठ बतलाया है। महर्षि मनु ने इसका महत्व वर्णन करते हुए कहा है:—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
स संधार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥

अर्थात् जैसे सब नदी-नद समुद्र में जाकर आश्रय पाते हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों के लोग गृहस्थ आश्रम में आकर आश्रय पाते हैं। १। जैसे वायु का आश्रय लेकर सारे प्राणी वर्त्तते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रम वर्त्तते हैं। २। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीनों आश्रमों वाले लोगों को गृहस्थ ही अपने दान, अन्नादि से धारण करता है, इससे गृहस्थ ही सब आश्रमों में श्रेष्ठ, अर्थात् धुरन्धर है। ३। इस लिए जो मनुष्य मोक्ष और सांसारिक सबसुखों की इच्छा रखता हो, उसको बड़े प्रयत्न के साथ गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिए। क्योंकि यह आश्रम दुर्बलेन्द्रिय—अर्थात् कमज़ोर लोगों के धारण करने योग्य नहीं है। ४।

महर्षि मनु का पिछला वाक्य आजकल के लोगों को खूब समझ लेना चाहिए; क्योंकि यदि ब्रह्मचर्याश्रम का अच्छी तरह से पालन नहीं किया है—अपने शरीर और मन को खूब बलवान् नहीं बनाया है; और सांसारिक व्यवहारों के समुचित रूप से चलाने की सामर्थ्य, तथा विद्याबल नहीं प्राप्त किया है, तो गृहस्थ आश्रम के धारण करने में दुर्गति ही है। ऐसी दशा में न तो शूरवीर और बुद्धिमान् सन्तान ही उत्पन्न हो सकती है; और न गृहस्थी का बोझ सम्हालकर अन्य आश्रमों की सेवा ही की जा सकती है। कमज़ोर कंधे इतना भारी बोझ कैसे सम्हाल सकते हैं।

इस लिए हमारे देश के सब नवयुवक और नवयुवतियों को पहले ब्रह्मचर्याश्रम का यथाविधि पालन करके, तब विवाह करके, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। विवाह करते समय इस बात का ध्यान रहे कि, वर-वधू का जोड़ा ठीक रहे। दोनों

सद्‌गुणी, विद्वान्, बलवान्, ब्रह्मचारी और गृहस्थी का भार सम्हालने योग्य हों। विवाह का मतलब इन्द्रियसुख नहीं है; किन्तु शूरवीर और परोपकारी सन्तान उत्पन्न करके देश का उपकार करना है। इस लिए जब पति-पत्नी दोनों सुयोग्य होंगे; तभी गृहस्थाश्रम में वे स्वयं सुखी रह सकेंगे; और अपने देश का उपकार भी कर सकेंगे। महर्षि मनु ने कहा है:—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

मनु०

अर्थात् जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित रूप से कल्याण रहता है। वही कुल धन-दौलत, सुख-आनन्द, यश-नाम पाता है। और जहां दोनों में कलह और विरोध रहता है, वहां दुःखदरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इसलिए विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर, इत्यादि सब बातों का विचार करके ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों का परस्पर विवाह होना चाहिए। अथर्ववेद में कहा है:—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

अथर्व०

अर्थात् कन्या भी यथाविधि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके— अर्थात् संयम से रहकर विद्याभ्यास करके अपने योग्य युवा पति के साथ विवाह करे। स्त्री को सोलह वर्ष के पहले और पुरुष को पच्चीस वर्ष से पहले अपने रज और वीर्य को, किसी दशा में भी, बाहर न निकलने देना चाहिए। विवाह के बाद गर्भाधान संस्कार की अवस्था यही बतलाई गई है। सुश्रुत में लिखा

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥

अर्थात् २५ वर्ष से कम उम्रवाला पुरुष यदि सोलह वर्ष से कम उम्रवाली स्त्री में गर्भाधान करता है, तो वह गर्भ पेट में ही निरापद नहीं रहता । अर्थात् गर्भपात हो जाता है; और यदि बच्चा पैदा भी होता है, तो जल्दी मर जाता है; और यदि ज़िन्दा भी रहता है, तो दुर्बलेन्द्रिय और पृथ्वी का भार हो कर जीता है । आजकल ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन न होने के कारण हमारे देश की सन्तान की यही दशा हो रही है ।

अस्तु । गृहस्थाश्रम में आकर मनुष्य को धर्म के साथ, अपने अपने वर्णानुसार, कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए । गृहस्थी में रहकर भी पुरुष को ब्रह्मचारी रहना चाहिए । आप कहेंगे कि गृहस्थ कैसा ब्रह्मचारी ? इस प्रश्न का उत्तर मनुजी ने दिया है:—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥

मनु०

इसका सारांश यह है कि, जो पुरुष सदा अपनी ही स्त्री से प्रसन्न रह कर ऋतुगामी होता है; और गर्भ रहने के बाद फिर स्त्री को बचाता है, वह गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचारी ही के समान है । जितने ऋषिमुनि और महापुरुष गृहस्थाश्रमी हुए हैं, वे सब इसी प्रकार से रहते थे । पुरुषों को अपने घर में स्त्रियों के साथ कैसा बर्त्ताव करना चाहिए, इस विषय में महर्षि मनु का उपदेश अमूल्य है:-

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सम्पदा ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

मनु०

अर्थात् जो पिता, भाई, पति और देवर अपने कुल का सुन्दर कल्याण चाहते हों, वे अपनी लड़कियों, बहिनों, पत्नियों और भौजाइयों को, सत्कारपूर्वक, भूषणादि सब प्रकार से, प्रसन्न रखें; क्योंकि जहां स्त्रियां प्रसन्न रखी जाती हैं, वहां देवता रमते हैं—सब प्रकार से सुख रहता है; और जहां वे प्रसन्न नहीं रखी जातीं वहां कोई काम सफल नहीं होता। जिस कुल में स्त्रियां दुखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही नाश हो जाता है; और जहां वे सुखी रहती हैं, वहां सुखसम्पदा बढ़ती रहती है; इस लिए जो लोग अपने घर का ऐश्वर्य चाहते हैं, उनको उचित है कि, वे वस्त्र-आभूषण और भोजन इत्यादि से इनको सदैव प्रसन्न रखें। तिथि-त्योहार और उत्सवों पर इनका ख़ास तौर पर सत्कार किया करें।

मनुजी की इस शिक्षा को प्रत्येक मनुष्य गांठ में बांध ले, तो उसका कल्याण क्यों न हो ?

स्त्रियों का कर्त्तव्य भी मनुजी ने बहुत सुन्दर बतलाया है। आप कहते हैं:—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥

मनु०

अर्थात् यदि स्त्री अपने पति से प्रेम न करेगी; उसको प्रसन्न न रक्खेगी, तो दुःख और शोच के मारे उसका मन उल्लसित न होगा; और न काम उत्पन्न होगा। (ऐसी ही दशा में पुरुषों का चित्त स्त्रियों से हट जाता है; और कोई कोई पुरुष दुराचारी भी हो जाते हैं)। स्त्रियों के स्वयं प्रसन्न रहने—और सब को प्रसन्न रखने—से ही सब घर-भर प्रसन्न रहता है; और उनकी अप्रसन्नता में सब दुःखदायक मालूम होता है। इस लिए मनु जी कहते हैं कि,

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥

मनु०

स्त्री को सदा प्रसन्न रहना चाहिए; और घर का काम खूब दक्षतापूर्वक करना चाहिए। सब सामान, जहां का तहां सफाई के साथ, रखना चाहिए; और ख़र्च हाथ सम्हालकर करना चाहिए।

स्त्रियों के बिगड़ने के छै दूषण मनुजी ने बतलाये हैं, उनसे स्त्रियों को बचना चाहिए। पुरुषों को उचित है कि, इन दूषणों में अपने घर की स्त्रियों को न फँसने दें:—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट् ॥

मनु०

अर्थात् मद्य, भंग, इत्यादि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्ट पुरुषों

का संग, पतिवियोग, अकेले जहां-तहां पाखंडी साधुसंन्तों के दर्शन के मिस से घूमते रहना, तथा पराये घर में जाकर शयन करना, ये छै दूषण स्त्रियों को बिगाड़ने वाले हैं। स्त्री, और पुरुषों को भी, इनसे बचना चाहिए।

मनुष्य के धर्मकर्तव्य इस पुस्तक में जगह जगह बतलाये गये हैं। उनमें से अधिकांश गृहस्थ के लिए ही हैं। इस लिए यहां विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। एक कवि ने गृहस्थाश्रम की धन्यता का वर्णन करते हुए एक श्लोक कहा है, उसको लिख देना पर्याप्त होगा :—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी।
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषितिरतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ॥
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे।
साधोः संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥

अर्थात् आनन्दमयी घर है, पुत्रपुत्री इत्यादि बुद्धिमान् हैं, स्त्री मधुरभाषिणी है, अच्छे अच्छे मित्र हैं, सुन्दर धन-दौलत है, अपनी ही स्त्री से, और अपने ही पुरुष से, प्रीति है, अर्थात् स्त्रीपुरुष व्यभिचारी नहीं हैं; नौकर लोग आज्ञाकारी हैं, अतिथि-अभ्यागत का रोज़ सत्कार होता रहता है, परमेश्वर की भक्ति में सब लगे हैं, सुन्दर सुन्दर भोजन खाते-खिलाते हैं, साधुओं और विद्वानों का सत्संग करके सदैव उनसे सुन्दर उपदेश ग्रहण करते रहते हैं। ऐसा जो गृहस्थाश्रम है, उसको धन्य है। यही स्वर्ग है। प्रत्येक गृहस्थ को उपर्युक्त कर्त्तव्य पालन करके अपनी गृहस्थी को स्वर्गधाम बनाना चाहिए।

वानप्रस्थ

गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रयदाता है; परन्तु यहीं

तक मनुष्य का कर्त्तव्य समाप्त नहीं है। इसके बाद वानप्रस्थ और संन्यास, दो आश्रम और हैं, जिनमें मनुष्य को अगले जन्म की तैयारी विशेष रूप से करना चाहिए। परोपकार करते हुए ईश्वर का अखंड चिन्तन करते रहना ही मनुष्य के उत्तरार्ध जीवन का कर्त्तव्य है। इसके बिना उसका जीवन सार्थक नहीं हो सकता। शतपथ ब्राह्मण में कहा है:—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्।
गृही भूत्वा वनी भवेत्।
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥

—शतपथ ब्राह्मण।

अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त करके गृहस्थाश्रम धारण करो, गृहस्थाश्रम का कर्त्तव्य करके, जंगल को चले जाओ; और जंगल में बसने के बाद अन्त में परिव्राजक संन्यासी बनो। वानप्रस्थ आश्रम कब ग्रहण करना चाहिए, इस विषय में मनु जी कहते हैं:—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥

मनु०

अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि, हमारे बाल पक गये; और शरीर की खाल ढीली पढ़ने लगी, तथा सन्तान के भी सन्तान (नाती-नातिन) हो चुकी, तब वह घर छोड़ कर बन में जावे; और वहां वानप्रस्थ के नियमों से रहे। वे नियम मनुजी ने इस प्रकार बतलाये हैं:—

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥
—मनु० ।

घर और गाँव के सब उत्तमोत्तम भोजनों और वस्त्रों को छोड़कर, स्त्री को पुत्रों के पास रखकर; अथवा यदि सम्भव हो, तो अपने साथ लेकर, वन में चला जाय। वहां अग्निहोत्र इत्यादि धर्मकर्मों को करते हुए, इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए, निवास करे। पसाई के चावल, रामदाना, नाना प्रकार के शाक, फल, मूल, इत्यादि फलाहारी पदार्थों से पंचमहायज्ञों को करे; और यज्ञों से बचा हुआ पदार्थ स्वयं सेवन करके मुनिवृत्ति से रहे। परमात्मा का सदैव चिन्तन करता रहे।

इसके सिवाय वानप्रस्थ के और भी कुछ कर्त्तव्य हैं; और वे हैं परोपकार-सम्बन्धी; क्योंकि परोपकार मनुष्य से किसी आश्रम में भी छूटता नहीं है। महर्षि मनु कहते हैं:—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ॥
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥
मनु०

स्वाध्याय, अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में सदा लगा रहता है। इन्द्रियों और मन को सब प्रकार से जीतकर अपनी आत्मा को वश में कर लेता है। संसार का मित्र बन जाता है। इन्द्रियों को चारों ओर से खींचकर ईश्वर और संसार के हित में लगा देता है। विद्यादानादि से जंगल के निवासियों का हित करता है; और

ग्राम के जिन लोगों से सम्पर्क रहता है, उनको भी विद्या-दानादि से लाभ पहुँचाता है। सब प्राणियों पर दया करता है। अपने सुख के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता। ब्रह्मचर्यव्रत का धारण करता है। अर्थात् यदि अपनी स्त्री भी साथ में रहती है, तो उससे भी कोई कामचेष्टा नहीं करता। पृथ्वी पर सोता है। किसी से मोह-ममता नहीं रखता। सब को समान दृष्टि से देखता है। वृक्ष के नीचे झोपड़ी में रहता है।

मुण्डकोपनिषद् में वानप्रस्थ आश्रम धारण करनेवाले के लिए बतलाया गया है:—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः। सूर्य्य-द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

—मुण्डकोपनिषद्।

अर्थात् जो शान्त विद्वान् लोग सत्कर्मानुष्ठान करते हुए, स्वयं कष्ट सहकर परोपकार करते हुए, भिक्षा से अपना निर्वाह करते हुए, बन में रहते हैं, वे निर्मल होकर, प्राणद्वार से, उस परम पुरुष, अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करके आनन्दित होते हैं।

आजकल प्रायः लोग गृहस्थाश्रम में ही बेतरह फँसे हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं—निश्चिन्त होकर परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में अपना कुछ भी समय नहीं देते। इससे पुनर्जन्म में उनको आनन्द प्राप्त नहीं होता। इसी लिए महर्षियों ने गृहस्थ के बाद दो आश्रमों का विधान करके—आधी आयु को परोपकार और ईश्वरचिन्तन में बिताने का आदेश करके—मनुष्य की परम उन्नति का द्वारा खोल दिया है। सब लोगों को इस आदेश पर चल कर लोक-परलोक सुधारना चाहिए।

संन्यास

यह मनुष्य का अन्त का आश्रम है। इसके विषय में महर्षि मनु कहते हैं:—

> वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
> चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥
>
> मनु०

अर्थात् आयु का तीसरा भाग वन में व्यतीत करने के बाद जब चतुर्थ भाग शुरू हो, तब बन को भी छोड़ देवे; और सर्वसंग-परित्याग करके—यदि स्त्री साथ में हो, तो उसको भी छोड़-कर—परिव्राजक बन जावे। यों तो परिव्राजक बनने के लिए कोई समय नहीं है, जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाय, तभी वह संन्यासी हो सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का ऐसा ही मत है:—

> यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो जाय, उसी दिन, चाहे वह वन में हो, चाहे घर में हो, संन्यास ले सकता है—ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास ले सकता है, जैसा कि स्वामी शंकरा-चार्य, स्वामी दयानन्द, इत्यादि ने किया। परन्तु सच्चा वैराग्य होना, हर हालत में, आवश्यक है। यह नहीं कि आजकल के बावन लाख साधु-संन्यासियों की तरह गृहस्थों का भाररूप हो जाय—उनको ठगकर बड़ी बड़ी सम्पत्तियां एकत्र करे—भोग-विलास में पड़ा रहे-अथवा चोरी और दुराचार में पकड़ा जाय। इस प्रकार के संन्यासियों ने ही भारत का नाश कर दिया है। ऐसे संन्यासी नरक में जायँगे। इनको परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकता। कठोपनिषद् में कहा है:—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
कठ०

अर्थात् जिन्होंने दुराचार इत्यादि बुरे कर्म नहीं छोड़े हैं, जिनका मन और इन्द्रियां शान्त नहीं हुई हैं, जिनकी आत्मा ईश्वर और परोपकार में नहीं लगी है, जिनका चित्त सदा विषयों में लगा रहता है, वे संन्यास लेकर भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते।

इस लिए संन्यासी को उचित है कि, अपनी वाणी और मन को अधर्म से रोक कर ज्ञान और आत्मा में लगावे; और फिर उस ज्ञान और आत्मा को एक में करके—अध्यात्मज्ञान से—उस शान्तस्वरूप परमात्मा में स्थिर करे। यही योग है—योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। अर्थात् सब विषयों से चित्त को खींच कर एक परमात्मा और परोपकार में उसको स्थिर करना ही योग है। योगी और संन्यासी में कोई भेद नहीं है। गीता के छठवें अध्याय में भगवान् कृष्ण ने संन्यासी और योगी के लक्षण, तथा उसके कर्त्तव्य, विस्तारपूर्वक बतलाए हैं। यहां पर विस्तार-भय से हम विशेष नहीं लिख सकते। तथापि निम्नलिखित श्लोक से कुछ कुछ उसका आभास मिल जायगाः—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
—भगवद्गीता

अर्थात् कर्म-फल का आश्रय छोड़कर जो महात्मा सब धार्मिक कर्मों को बराबर करता रहता है, वही संन्यासी है; और वही योगी है। जो लोग कहते हैं कि, अब तो हम संन्यासी हो गये, अब हमको कोई कर्त्तव्य नहीं रह गया—अग्निहोत्रादि

धर्मकार्यों से अब अपने राम को क्या मतलब है ! ऐसा कहनेवाले साधु-संन्यासी भगवान् कृष्ण के उपर्युक्त कथन का मनन करें। भगवान् कहते हैं कि, परोपकारादि सब धार्मिक कार्य संन्यासी को भी करना चाहिए; परन्तु उसके फल में आसक्ति न रखना चाहिए। बिलकुल अकर्मण्य बनकर, अग्निहोत्रादि धर्मकार्यों को छोड़कर, बैठनेवाला मनुष्य संन्यासी कदापि नहीं हो सकता।

संन्यासी के लिए अपना कुछ नहीं रहता। सारा संसार उसको ईश्वरमय दिखलाई देता है; और वह जो कुछ करता है, ईश्वरप्रीत्यर्थ करता है। सांसारिक सब प्रकार की कामनाओं को वह छोड़ देता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है:—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति ॥

—शतपथ-ब्राह्मण।

अर्थात् संन्यासी लोग स्त्रीपुत्रादि का मोह छोड़ देते हैं, धन की उनको कोई परवा नहीं रहती, यश की उनको चाह नहीं रहती—वे सर्वसंगपरित्याग करके, भिक्षाटन करते हुए, रात-दिन मोक्षसाधन में लगे रहते हैं।

महर्षि मनु ने भी अपनी मनुस्मृति में संन्यासी के रहन-सहन और कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए लिखा है:—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥
क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः ।
तपश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम् ॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैः शनैः ॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥

मनु०

अर्थात् केश, नख, दाढ़ी, मूछ इत्यादि छेदन कराके सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम इत्यादि से रँगे हुए वस्त्र धारण करे; और फिर सब प्राणियों को सुख देते हुए, स्वयं भी आनन्दस्वरूप होकर, विचरण किया करे। जब कहीं उपदेश अथवा संवाद इत्यादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे, अथवा उसकी निन्दा करे, तो संन्यासी को उचित है कि, आप स्वयं बदले में उसके ऊपर क्रोध न करे; बल्कि अत्यन्त शान्ति धारण करके उसके कल्याण का ही उपदेश करे; और एक मुख से, दो नासिका के, दो आंखों के और दो कानों के छिद्रों में बिखरी हुई—सप्तद्वारावकीर्ण—वाणी को, कभी, किसी दशा में भी, मिथ्या बोलने में न लगावे। संन्यासी जब मार्ग में चले, तब इधर-उधर न देख कर नीचे पृथ्वी पर दृष्टि रख कर चले। सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे। सदा सत्य से पवित्र वाणी बोले। सदा मन से विवेक करके, सत्य का ग्रहण करके और असत्य का त्याग करके, आचरण करे। किसी प्राणी को कभी कष्ट न दे, न किसी की हिंसा करे, इन्द्रियों के सब विषयों को त्याग दे, वेद में जो धार्मिक कर्म, विद्यादान, परोपकार, अग्निहोत्रादि बतलाये गये हैं, उनका यथाविधि आचरण करे, खूब कठोर तपश्चर्या धारण करे—अर्थात् सत्कर्मों के करने में खूब कष्ट उठावे, लेकिन दूसरे किसी को उसके कारण कष्ट न होने पावे। इसी

प्रकार आचरण करके संन्यासी परमपद को पा सकता है। इस प्रकार धीरे धीरे सब संगदोषों को छोड़, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, हानिलाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण, भूखप्यास, इत्यादि जितने द्वन्द्व हैं, उनसे मुक्त होकर, संन्यासी परमात्मा परब्रह्म में स्थित होता है।

संन्यासी के ऊपर भी बड़ी ज़िम्मेदारी है—वह स्वयं अपने लिए मोक्ष का आचरण करे; और अपने ऊपर वाले अन्य तीनों आश्रमों से भी धर्माचरण करावे, सब के संशयों को दूर करे। सत्य उपदेश से सब को सन्मार्ग पर चलावे। धर्म के दश लक्षण जो मनुजी ने बतलाये हैं; और जिनका इस पुस्तक में अन्यत्र वर्णन हो चुका है; वे चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए बराबर आचरणीय हैं। मनुजी ने इस विषय में कहा है :—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥

मनु०

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि-विवेक, विद्या, सत्य, अक्रोध, इन दस लक्षणों से पूर्ण धर्म का आचरण, अत्यन्त प्रयत्न के साथ, चारों ही वर्णों और आश्रमों को करना चाहिए। संन्यासी का यही कर्त्तव्य है कि, स्वयं अखंडरूप से परमात्मा में चित्त रखते हुए, सारे संसार को इस धर्म पर चलने का उपदेश करे।

पांच यज्ञ

संसार के हित के लिए जो आत्मत्याग किया जाता है, उसी को यज्ञ कहते हैं। हिन्दूजाति का जीवन यज्ञमय है। यज्ञ से ही इसकी उत्पत्ति होती है; और यज्ञ ही में इसकी अन्त्येष्टि होती है। यज्ञ का अर्थ जितनी पूर्णता के साथ आर्य या हिन्दू-जाति ने जाना है, उतना अन्य किसी जाति ने नहीं। हिन्दूधर्म के सभी ग्रन्थों में यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। आदि-धर्मग्रन्थ वेद तो बिलकुल यज्ञमय है। एक हिन्दू जो कुछ कर्म जीवन-भर करता है, सब यज्ञ के लिए। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे और चौथे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने यज्ञ का रहस्य अत्यन्त सुन्दरता के साथ बतलाया है। आप कहते हैं:—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥
गीता

अर्थात् यदि 'यज्ञ' के लिए कर्म नहीं किया जायगा; केवल स्वार्थ के लिए किया जायगा, तो वही कर्म बन्धनकारक होगा। इस लिए हे अर्जुन, तुम जो कुछ कर्म करो, सब यज्ञ के लिए—अर्थात् संसार के हित के लिए—करो; और संसार से आसक्ति छोड़कर आनन्दपूर्वक आचरण करो। यज्ञ की उत्पत्ति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं:—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
गीता

अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने जब आदिकाल में यज्ञ के साथ ही साथ अपनी इस प्रजा को उत्पन्न किया, तब वेद द्वारा यह कहा कि, देखो, इस 'यज्ञ' से तुम चाहे जो उत्पन्न कर लो।

यह तुम्हारी कामधेनु है। यह तुम्हारी सब मनोकामनाओं को पूर्ण करेगा। क्योंकि—

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
गीता

इस यज्ञ ही से तुम देवताओं— सृष्टि की सम्पूर्ण कल्याणकारी शक्तियों—को प्रसन्न करो। तब वे देवता स्वाभाविक ही तुमको भी प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर को प्रसन्न करने से तुम सब का परम कल्याण होगा। क्योंकि—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥
गीता

वे यज्ञ से प्रसन्न किये हुए देवता लोग तुमको सब प्रकार के सुख देंगे। परन्तु उनके दिये हुए उन सुखों को यदि तुम फिर उनको अर्पित किये बिना भोगोगे, तो चोर बनोगे। क्योंकि यज्ञ के द्वारा देवता लोग तुमको जो सुखद पदार्थ देंगे, उनको फिर यज्ञ के द्वारा उनको अर्पित करके तब तुम सुख भोग करो। इस प्रकार सिलसिला सुखभोग का लगा रहेगा। यज्ञ करके जो सुखभोग किया जाता है, वही कल्याणकारी है:—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

अर्थात् यज्ञ करने के बाद जो शेष रह जाता है, उसी का भोग करने से सारे पाप दूर होते हैं; किन्तु जो पापी, यज्ञ का ध्यान न रखकर, केवल अपने लिए ही पाकसिद्धि करते हैं, वे पाप खाते हैं। बिना यज्ञ किये भोजन करना मानो पाप ही का भोजन है।

जो अन्न हम खाते हैं, वह किस प्रकार उत्पन्न होता है, इस विषय में भगवान् कृष्ण कहते हैं:—

पांच यज्ञ

> अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
> यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
> तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

गीता

अर्थात् अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से उत्पन्न होता है; और वृष्टि यज्ञ से होती है। यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म वेद से उत्पन्न हुआ जानो और वेद ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार सर्वव्यापी ईश्वर सदैव यज्ञ में स्थित है। इस लिए—

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

गीता

हे अर्जुन, परमात्मा के जारी किये हुए उपर्युक्त सिलसिले के अनुसार जो मनुष्य आचरण नहीं करता—अर्थात् यज्ञ के महत्व को समझकर जो नहीं चलता—वह पापजीवन अपनी इन्द्रियों के सुख में भूला हुआ इस संसार में व्यर्थ ही जीता है।

इससे अधिक ज़ोरदार शब्दों में यज्ञ का महत्व और क्या बतलाया जा सकता है! परन्तु अत्यन्त दुःख की बात है कि, हम लोगों ने यज्ञ करना छोड़ दिया है। यही नहीं, बल्कि हम में से अनेक सुशिक्षित कहलाने वाले लोग तो यज्ञ की हँसी उड़ाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की यह बात कि, यज्ञ से वृष्टि होती है, उनकी समझ में नहीं आती। वे लोग कहते हैं कि, सूर्य की गर्मी से जो भाफ़ समुद्रादि जलाशयों से उठती है, उसी से बादल बनकर वृष्टि होती है। यह तो ठीक है; परन्तु फिर क्या कारण है कि, किसी साल बहुत अधिक वृष्टि होती

है; और किसी साल बिलकुल नहीं होती। आप कहेंगे कि, भाफ तो बराबर उठती है; परन्तु हवा बादल को कहीं का कहीं उड़ा ले जाती है; और इसी कारण कहीं वृष्टि अधिक हो जाती है; और कहीं बिलकुल नहीं होती। ठीक। परन्तु हवा ऐसा क्यों करती है? इसका कोई बुद्धियुक्त उत्तर नहीं दिया जा सकता। यही तो भेद है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस भेद का खुलासा किया है। उनका कथन है कि, यथाविधि यज्ञ-हवन करने से मुख्य तो वायु की ही शुद्धि होती है; फिर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इत्यादि सभी भूतों पर यज्ञ का असर पड़ता है। अग्नि में घृत, इत्यादि जो सुगंधित और पुष्ट पदार्थ डाले जाते हैं, वे वायु में मिलकर सूर्य तक पहुँचते हैं; और बादलों में मिलकर जल की भी शुद्धि करते हैं। महर्षि मनु ने कहा है:—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

मनु०

अर्थात् अग्नि में जो आहुति डाली जाती है, वह सूर्य तक पहुँचती है; सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है; और अन्न से प्रजा।

इसके सिवाय वायु की शुद्धि से रोग भी नहीं होते। जब से हमारे देश में यज्ञ बन्द होगए; और इधर पश्चिमी कलकारखानों और रेल के कारण से वायु और भी अधिक दूषित होगई, तभी से इस देश में नाना प्रकार के रोग फैल गये। रोग-निवृत्ति के अर्थ तो अब भी ग्रामीण लोग हवन, इत्यादि किया करते हैं; और प्रायः उससे लाभ ही हुआ करता है। इससे

अनुमान कर लेना चाहिए कि, जिस समय इस देश में बड़े बड़े यज्ञ होते थे, उस समय इस देश में आरोग्यता और सुख-समृद्धि कितनी होगी। भविष्य पुराण में लिखा है:—

ग्रामे ग्रामे स्थितो देवः देशे देशे स्थितो मखः।
गेहे गेहे स्थितं द्रव्यम् धर्मश्चैव जने जने॥

भविष्य पुराण

अर्थात् गावँ गावँ में देवता स्थित हैं, देश देश में, भारत के प्रत्येक प्रान्त में, यज्ञ होते रहते हैं; घर घर में द्रव्य मौजूद है, अर्थात् कोई दरिद्री नहीं है; और प्रत्येक मनुष्य में धर्म मौजूद है।

कुछ मूर्ख लोग कहा करते हैं कि, देश की इस दरिद्रावस्था में घृत, मेवा, ओषधि तथा सुन्दर सुन्दर अन्न, खीर, हलुवा इत्यादि अग्नि में फूंक देना मूर्खता है। इन पदार्थों को स्वयं यदि खायँ, तो मोटे-ताज़े और पुष्ट होंगे। इसी स्वार्थभाव ने इस देश का सत्यानाश किया है। ये मूर्ख नहीं जानते कि, यज्ञ जनता के हित के लिए, स्वार्थत्याग करने के हेतु से ही, होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है:—

यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते।

—ऐतरेय ब्राह्मण।

अर्थात् यज्ञकार्य परोपकार और जनता के हित के लिए ही होता है। हमारा निज का हित उससे अलग नहीं है। यही बात कृष्ण भगवान् ने भी कही है। फिर, जो पदार्थ हम हवन करते हैं, वे कहीं नष्ट होकर लोप नहीं होजाते हैं। जल, वायु और अन्न के द्वारा हमारे ही उपयोग में आते हैं। मूर्ख लोग समझते हैं कि, इनका नाश हो जाता है; पर वास्तव में जो

पदार्थ है, उसका नाश तो हो ही नहीं सकता है; और जो नहीं है, वह हो नहीं सकता। गीता में ही कहा है:

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥
भगवद्गीता

अर्थात् जो चीज़ है ही नहीं, उसका भाव कहां से हो सकता है, जो है, उसका अभाव नहीं हो सकता। दोनों का भेद तत्व-दर्शी लोग जानते हैं। मूर्ख क्या जानें?

अस्तु। यज्ञ की प्रथा यदि फिर हमारे देश में चल जावेगी, तो अतिवृष्टि, अनावृष्टि और बहुत से रोग-दोष दूर हो जावेंगे; परन्तु साथ ही, अँगरेजी राज्य में, वायु को दूषित करनेवाले जो कारण यहां पर उपस्थित हो गये हैं, उनका भी दूर होना आवश्यक है।

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं। एक तो मामूली यज्ञ, जो किसी निमित्त से किये जाते हैं; जैसे वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय, इत्यादि; और दूसरे नित्य के यज्ञ, जो प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए; और जिनको पंचमहायज्ञ कहते हैं। ये पांच महायज्ञ इस प्रकार हैं:—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥
—मनुस्मृति।

(१) ऋषियज्ञ—अर्थात् वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना सन्ध्योपासन, योगाभ्यास, इत्यादि; (२) देवयज्ञ—अर्थात् वेदमंत्रों के साथ अग्निहोत्र, हवन करना; (३) भूतयज्ञ—अर्थात् कुत्ता, भंगी, रोगी, कोढ़ी इत्यादि तथा अन्य पशु-पक्षी

कीट-पतंगादि सब प्राणियों को भोजन इत्यादि देकर सन्तुष्ट करना; (४) नृयज्ञ—अर्थात् अतिथि-अभ्यागत, साधु-महात्मा, इत्यादि को भोजनवस्त्र, दक्षिणा, इत्यादि देकर सन्तुष्ट करना; (५) पितृयज्ञ—माता-पिता, इत्यादि गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा करके उनको सुखी करना; और पितरों की आत्मा को श्राद्ध-तर्पण इत्यादि से सन्तुष्ट करना। यही पांच महायज्ञ हैं, जो गृहस्थ के लिए विशेषकर और अन्य आश्रम वालों के लिए भी साधारण तौर पर बतलाये गये हैं। इन यज्ञों और महा-यज्ञों के यथाविधि करने से ही परमात्मा प्रसन्न होता है। महर्षि मनु कहते हैं:—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

मनु०

अर्थात् सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, इत्यादि नियमों के पालने, अग्निहोत्रादि करने, वेदविहित कर्म, उपासना, ज्ञान का धारण करने, पक्षेष्ट्यादि करने, विद्वान् शूरवीर सन्तान उत्पन्न करने, पंचमहायज्ञ और दूसरे नैमित्तिक यज्ञ करने से ही परमात्मा प्रसन्न होता है; और ब्राह्मण का शरीर बनता है। इन साधनों के बिना ब्राह्मण-शरीर नहीं बन सकता।

सोलह संस्कार

किसी मामूली वस्तु पर कुछ क्रियाओं का ऐसा प्रभाव डालना कि, जिससे वह वस्तु और भी उत्तम बने, इसी को संस्कार कहते हैं। मनुष्य-जीवन को सुन्दर और उच्च बनाने के लिए हमारे पूर्वज ऋषियों ने जो रीतियां बतलाई हैं, उन्हीं को संस्कार कहते हैं। ये धार्मिक क्रियाएं, मनुष्य के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु पर्यन्त कुल सोलह हैं, और इन्हीं को हिन्दू धर्म में सोलह संस्कार कहते हैं। इन सोलह संस्कारों के करने से मनुष्य का शरीर, मन और आत्मा उच्च तथा पवित्र होता है। वे सोलह संस्कार इस प्रकार हैं:—

१ गर्भाधान—इसी को निषेक और पुत्रेष्टि भी कहते हैं। इसमें माता-पिता दोनों गर्भ धारण के पहले पूर्ण ब्रह्मचर्य का ब्रत रखते हैं। ऋतु-दान के कुछ दिन पहले से ऐसी ऐसी ओषधियां सेवन करते हैं कि जिनसे उनका रजवीर्य पुष्ट और पवित्र होता है। इसके बाद दोनों पवित्र और प्रसन्न भाव से गर्भाधान करते हैं।

२ पुंसवन—यह संस्कार गर्भ धारण के बाद तीसरे महीने में होता है। इसका तात्पर्य यह है कि, जिससे गर्भ की स्थिति ठीक ठीक रहे। इसी संस्कार के समय माता-पिता इस बात को भी दरसाते हैं कि, जब से गर्भ धारण हुआ है, तब से हम दोनों ब्रह्मचर्यब्रत से हैं; और जब तक फिर गर्भधारण की आवश्यकता न होगी, तब तक बराबर ब्रह्मचर्यब्रत से रहेंगे। इस संस्कार के समय भी स्त्री को पुष्टिकारक और पवित्र ओषधियां खिलाई जाती हैं।

३ सीमन्तोन्नयन—यह संस्कार गर्भ की वृद्धि के अर्थ छठे महीने में किया जाता है। इसमें ऐसे ऐसे उपाय किये जाते हैं कि, जिससे गर्भिणी का मन सुप्रसन्न रहे, उसके विचार उत्तम रहें; क्योंकि उन्हीं का असर बालक के मस्तिष्क और शरीर पर पड़ता है।

४ जातकर्म—यह संस्कार बालक के उत्पन्न होने पर, नालछेदन के पहले किया जाता है। इसमें होम-हवन, इत्यादि धर्मकार्य किये जाते हैं; और बालक की जिह्वा पर सोने की सलाई से 'वेद' लिखा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि, तू विद्वान् बन। तेरी बुद्धि बड़ी हो।

५ नामकरण—यह संस्कार बालक के उत्पन्न होने के ग्यारहवें दिन किया जाता है। इस संस्कार के अवसर पर बालक का नाम रखा जाता है। नाम रखने में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि नाम सरल और सरस हो। ब्राह्मण के नाम में विद्या, क्षत्रिय के नाम में बल, वैश्य के नाम में धन और शूद्र के नाम में सेवाभाव का बोध होना चाहिए। स्त्रियों के नाम में भी मधुरता हो; दो-तीन अक्षर से अधिक न हों; और अन्तिम अक्षर दीर्घ हो—जैसे शुशीला, सुमित्रा, यशोदा, सीता, सावित्री इत्यादि।

६ निष्क्रमण—यह संस्कार बालक के चौथे महीने में किया जाता है। इसमें बालक को धर्मकृत्यों के साथ घर से बाहर निकालना प्रारम्भ किया जाता है।

७ अन्नप्राशन—यह बालक के छठे मास में किया जाता है। इस संस्कार के समय बालक को मधु और क्षीर इत्यादि दिया जाता है। इसके बाद वह अन्न-ग्रहण का अधिकारी होता है।